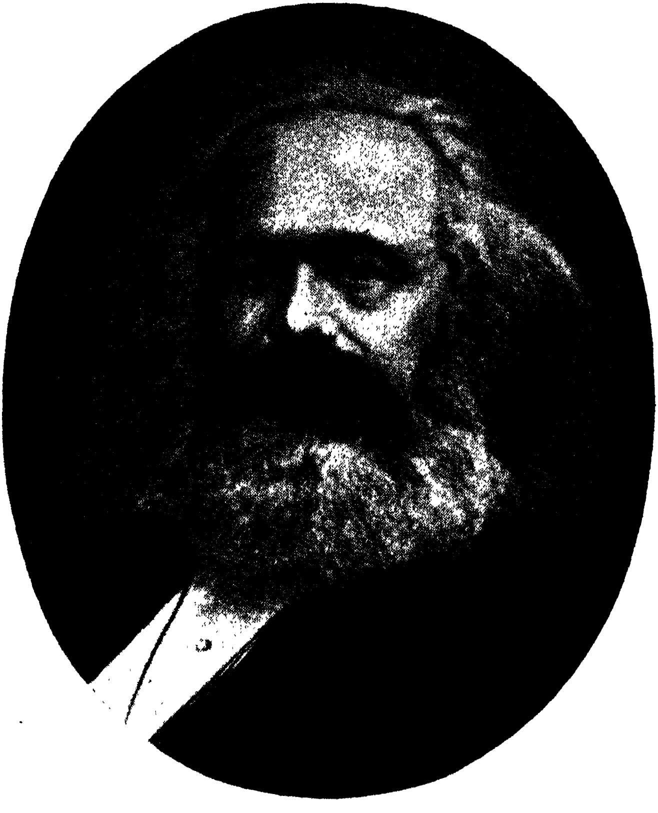


कार्ल मार्क्स

# आधुनिक
# राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका


लेखक

सी० ई० एम० जोड

अनुवादक

अम्बादत्त पन्त, एम० ए०,

राजनीति विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी



ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

बम्बई कलकत्ता मद्रास

१९५७

ADHUNIK RAJANITIK SIDDHANTA - PRAVESHIKA
C. E. M. JOAD
Introduction to Modern Political Theory (in Hindi)
Translated by Amba Datta Pant, Lecturer, Allahabad University

PRINTED IN INDIA
by A. K. Roy at Art Union Printing Works Private Ltd
80/15, Grey Street, Calcutta—6 and published by John Brown,
Oxford University Press, Mercantile Buildings, Calcutta—1

# प्रस्तावना

इस पुस्तक में मैंने आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के प्रमुख पक्षों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथा आद्योपान्त मेरा यह प्रयास रहा है कि इन विविध सिद्धान्तों का इस प्रकार वर्णन तथा विमर्श किया जाय कि उनके समझने के लिये विषय से पूर्व-परिचय की आवश्यकता न हो।

आधुनिक राजनीतिक दर्शन अति अस्पष्ट अवस्था में है। न केवल इसके द्वारा विमर्शित विषय ही अत्यन्त विवादास्पद हैं, परन्तु इसकी मुख्य समस्याओं की प्रकृति तथा उनकी प्रतिपादन-पद्धति के विषय में भी मतभेद है। इस कारण आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के प्रमुख पक्षों का वर्णन करना सरल कार्य नहीं है। मैं इससे अनभिज्ञ नहीं हूं कि अनेक विषयों का, जिन पर साधारणतः राजनीतिक दर्शन में विचार किया जाता है, इस पुस्तक में अत्यन्त ही संक्षिप्त वर्णन है अथवा उनका उल्लेख भी नहीं किया गया है। राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त पर केवल सोलह पृष्ठ हैं और मुख्यतः इसका वर्णन इससे जनित प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि के रूप में ही है। व्यक्तिवाद का भी, इसी प्रकार, अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन है। विधि तथा राजनीति शास्त्र के मध्य सम्बन्ध पर तो विचार भी नहीं किया गया है। दूसरी ओर कुछ लोगों को यह प्रतीत होगा कि समाजवाद के हाल के विकास को आवश्यकता से अधिक स्थान दिया गया है। इस असमानता का कारण यह नहीं है कि समाजवाद की अपेक्षा आदर्शवाद अथवा व्यक्तिवाद के गुणों की उपेक्षा की गई है। यह तो केवल राजनीतिक दर्शन में वर्त्तमान प्रचलित प्रवृत्तियों का परिचायक है।

इस विषय पर, इधर के वर्षों में लिखी हुई अधिकांश पुस्तकों में समाजवाद के विविध पक्षों का ही विवेचन किया गया है और उनमें से अधिकतः निश्चित

रूप से समाजवादी दृष्टिकोण से ही लिखी गई हैं। समाजवाद के विरोधी लेखकों ने भी अधिकांश समय इसकी आलोचना को ही दिया है। यह निर्विवाद है कि चाहे समाजवाद को प्रमुख स्थान न प्राप्त हुआ हो, आज यह आकर्षण का केन्द्र हो गया है। जिन प्रश्नों पर लेखक आजकल मुख्यत: विचार करते हैं वे सैद्धान्तिक पक्ष में तो व्यावसायिक-प्रजातन्त्र तथा सामूहिक-व्यक्तित्व की धारणाओं से सम्बन्धित हैं तथा व्यावहारिक पक्ष में समाजवाद के विविध रूपों से, जिनमें ये धारणाएं अभिव्यक्त होती हैं।

राजनीतिक दर्शन में ये विशिष्टत: आधुनिक विकास, न केवल अपने में ही, परन्तु राज्य की शक्ति तथा कार्यों के प्रश्न से सम्बन्धित होने के कारण भी, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे व्यवहार में राज्य-कार्य को प्रभावित करते हैं और सम्भवत: भविष्य में इससे भी अधिक प्रभावित करेंगे। अत: उनके दार्शनिक महत्त्व के अतिरिक्त भी, आधुनिक राजनीतिक दर्शन की प्रवेशिका के लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह उनका सविस्तार वर्णन करे।

में श्री जी० डी० एच० कोल का आभारी हूं जिन्होंने कृपापूर्वक तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों को पढ़ा तथा अनेक अमूल्य सुझाव दिये जिनका समावेश इस पुस्तक में किया गया है।

सी० ई० एम० जोड

# अनुवादक की भूमिका

अनेक विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया है। इसलिये यह आवश्यक हो गया है कि हमारी मातृभाषा में उत्कृष्ट पुस्तकें उपलब्ध हो सकें। इस कारण से अंग्रेजी तथा अन्यान्य भाषाओं की प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तकों का अनुवाद होना चाहिए। इसी उद्देश्य से यह अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

प्रोफेसर सी० ई० एम० जोड की यह पुस्तक वास्तव में 'गागर में सागर' है। अनुवाद यथासम्भव मूल का ही अनुसरण करता है।

अनुवाद-कार्य में मुझे मेरे भूतपूर्व शिष्य श्री राधानाथ चतुर्वेदी तथा मेरी पत्नी से अत्यन्त सहायता प्राप्त हुई है। मैं दोनों का आभारी हूं। अनुवाद की त्रुटियों का उत्तरदायित्व मेरा है।

अम्बा दत्त पन्त

# विषय सूची

# १

# राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त

**परिचय :**

राज्य का आदर्शवादी या निरंकुशतावादी सिद्धान्त दार्शनिक आदर्शवाद की महान परम्परा का ही अभिन्न अंग है। अभी हाल तक अंग्रेज़ी राजनीतिक दर्शन में इसी विचारधारा का प्राधान्य था। जर्मन दार्शनिक हेगेल (Hegel) की कृतियों में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का पूर्णरूप दृष्टिगोचर होता है। इंगलैण्ड में टी० एच० ग्रीन ने इसका प्रचलन किया और उसके पश्चात् डॉ० बोसांके (Dr Bosanquet) ने इसका विस्तार किया। उनके ग्रन्थ "राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त" (*The Philosophical Theory of the State*) में निरंकुशतावादी सिद्धान्त का सर्वाधिक पूर्ण विवरण मिलता है।

हाल के वर्षों में, सैद्धान्तिक पक्ष में, इस मत की कई दृष्टिकोणों से गम्भीर आलोचना की गई है। इस सिद्धान्त के प्रति असन्तोष इसलिये उत्पन्न हुआ, क्योंकि अनेक व्यक्तियों के अनुसार राज्यों के वास्तविक व्यवहार को, विशेषतः युद्ध-काल में, यह अर्ध-दार्शनिक अनुमोदन प्रदान करता है। इसलिये अब व्यक्ति निरंकुश राज्य के स्थान पर नितान्त ही भिन्न प्रकार की व्यवस्था की कल्पना कर रहे हैं। आजकल, जैसा हम अगले अध्यायों में देखेंगे, सामान्यतः राज्य के विरुद्ध ही भावना है।

परन्तु दार्शनिक पक्ष में यह सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। यह सङ्गत-रूप से, कुछ मूल धारणाओं से विकसित किया गया है और इसके निष्कर्षों को तब तक असिद्ध नहीं किया जा सकता जब तक कि इसकी मूल धारणाओं को ही अस्वीकार न कर दिया जाय।

अगले पृष्ठों में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उत्पत्ति, द्वितीय इसके प्रतिपादकों के प्रमुख विचारों का वर्णन, और अन्त में इसकी मुख्य आलोचनाओं की रूप-रेखा प्रस्तुत की जावेगी।

## १. निरंकुशतावादी सिद्धान्त के स्रोत :

राज्य के निरंकुशतावादी सिद्धान्त के दो भिन्न स्रोत हैं, जो दोनों सर्वप्रथम यूनानी विचारधारा में दिखलाई देते हैं। प्रथम तो राज्य को एक आत्म-निर्भर संस्था मानने की प्रवृत्ति है, जो कि सम्पूर्ण समाज से एक-सम है। तदनुसार, ऐरिस्टॉटल इस कथन से अचानक आरम्भ करता है कि राज्य की प्रकृति आत्म-निर्भरता है। प्लैटो की भी सामान्यत: यही धारणा है। जहां कहीं अन्य राज्यों के अस्तित्व का निश्चित रूप से निर्देशन किया गया है वहां यह मान लिया गया है कि उनका राज्य से सम्बन्ध केवल शत्रुता का ही हो सकता है। ग्रीनिज (Greenidge) के अनुसार एक यूनानी राज्य का दूसरे से स्वाभाविक या वैधानिक सम्बन्ध सुप्त-शत्रुता का था, तथा यह सर्वमान्य विचार था। "राज्य की समस्त बाह्य नियन्त्रणों से स्वतन्त्रता", विचारक ग्रोशस (Grotius) का मत था, तथा हॉब्स इस कथन से ही सन्तोष कर लेता है कि "राज्य स्वभावत: ही शत्रु हैं।"

अत: राज्य की विवेचना इस आधार पर की जाती है कि सम्पूर्ण मनुष्य समाज से इसका तादृप्य है। फलत: व्यक्ति का किसी राज्य के नागरिक के नाते उस राज्य से सम्बन्ध तथा मानव जाति के सदस्य के नाते सम्पूर्ण मनुष्य जाति से सम्बन्ध, दो पृथक् सम्बन्ध न माने जाकर, जैसा अनेक विचारकों का मत है, एक ही माने जाते हैं, क्योंकि राज्य, व्यक्ति की समस्त सामाजिक अभिलाषाओं का प्रतिनिधि तथा उनको धारण करनेवाला समझा जाता है और साथ ही साथ उसकी समस्त सामाजिक-अपेक्षाओं की पूर्त्ति करता है, अतएव व्यक्ति के ऊपर राज्य द्वारा की हुई मांगें एक परम सत्ता पर आधारित समझी जाती हैं। जहां तक राज्य के अतिरिक्त अन्य संवासों की मांगों का सम्बन्ध है वे गौण हैं और राज्य की मांगों की ही प्राथमिकता है।

मनुष्य-स्वभाव विषयक यूनानी धारणा उस दूसरी विचार-रेखा का प्रस्थान-बिन्दु है जो निरंकुश राज्य की ओर ले जाती है। अनेक राजनीतिक विचारकों का यह मत था कि व्यक्ति की वास्तविक तथा सारभूत प्रकृति वह है

जो उसके सामाजिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व एक कल्पित प्राकृतिक अवस्था में थी। फलतः इनके अनुसार समाज एक कृत्रिम संस्था है। मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक तथा मौलिक जीवन-स्थिति में व्याप्त असह्य-अरक्षा का अन्त करने के लिये एक निश्चित अनुबन्ध किया, जिससे सामाजिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। समाज की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त कहते हैं।

यूनानी दार्शनिक प्लैटो तथा ऐरिस्टॉटल ने मनुष्य तथा समाज, दोनों की ही प्रकृति के विषय में एक नितान्त भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनकी यह मूल धारणा थो कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है। क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है, इसलिए समाज में रहना उसके लिये स्वाभाविक है। असामाजिक जीवन प्रकृति के प्रतिकूल है, एतदर्थ व्यक्ति की यथार्थ प्रकृति का विकास केवल समाज में ही सम्भव है। केवल सामाजिक-जीवन द्वारा ही व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों तथा प्रतिभा को प्रत्यक्ष कर सकता है। सामाजिक-संसर्ग तथा सामाजिक-कर्त्तव्यों के पालन से ही उसका पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है। अतएव, हिंसा से सुरक्षा तथा अन्याय से प्रतिकार, ऐसे प्रत्यक्ष लाभों के अतिरिक्त, व्यक्ति राज्य के प्रति इसलिये भी कृतज्ञ है क्योंकि इसके द्वारा ही समस्त श्री तथा सम्भाव्यताओं के साथ उसे उसका व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है।

## २. सिद्धान्त का विवरण :

हेगेल के दर्शन में इस विचार का विस्तार तथा विकास किया गया है कि राज्य व्यक्ति के यथार्थ व्यक्तित्व का संरक्षक तथा कुछ अर्थों में स्रष्टा है। उसके अनुसार मनुष्य समाज की सदस्यता द्वारा जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं, वह उस स्वतन्त्रता से अधिक सत्य है जिसका, उन्होंने अपनी कल्पित विधि-हीन प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर समाज में प्रवेश करने के समय, परित्याग किया था। यह स्वतन्त्रता जो केवल समाज में ही सम्भव हुई, व्यक्ति के हृदय में स्थित स्वतन्त्रता की उदात्त धारणा का बाह्य जगत में प्रत्यक्षीकरण है। यह

धारणा समाज के बिना अप्रत्यक्ष ही रहती। हेगेल की भाषा में, राज्य में व्यक्ति ने अपने बाह्य रूप को पूर्णतः आध्यात्मिक चिन्तनमय स्तर तक उन्नत कर लिया है। यह यथार्थ स्वतन्त्रता जो समाज में स्थित है तथा इसका फल है, सक्रिय और विकासशील है। यह स्वतन्त्रता, प्रथम विधि में, द्वितीय आन्तरिक नैतिकता के नियम में जो कि व्यक्ति समाज से प्राप्त करता है, तथा तृतीय सामाजिक संस्थाओं तथा प्रभावों की सम्पूर्ण प्रणाली में जो कि व्यक्तित्व का निर्माण करती है, प्रकट होती है।

इस प्रकार राज्य में व्यक्ति के लिये ऐसी स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव हो जाता है जो उसे अन्य किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती थी। हेगेल के शब्दों में "केवल मात्र राज्य ही स्वतन्त्रता का वास्तवीकरण है।" इसका यह कारण है कि राज्य एक यथार्थ व्यक्तित्व है तथा उसका एक यथार्थ संकल्प (will) है। राज्य अपने उन समस्त नागरिकों के संकल्पों का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्होंने अनुबन्ध के द्वारा समाज का निर्माण किया है। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों के संकल्पों के योगफल के अतिरिक्त तथा उससे परे एक नवीन सत्ता को जो कि सामान्य संकल्प (General Will) है, और व्यक्तियों के व्यक्तित्व के योगफल के अतिरिक्त तथा उससे परे एक नवीन व्यक्तित्व को जो कि राज्य का व्यक्तित्व है, अस्तित्व में लाता है। सामान्य संकल्प तथा राज्य के व्यक्तित्व के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्तिगत व्यक्तित्व तथा संकल्प अपना अतिक्रमण करते हैं।

सामान्य संकल्प के विषय में यह कह सकते हैं कि यद्यपि कार्यरूप में इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति न हो सके तथापि निर्णय के लिये उपस्थित प्रत्येक प्रश्न के सम्बन्ध में एक ऐसा संकल्प होता है, क्योंकि यह व्यक्ति के संकल्प के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जिसका अन्य व्यक्तिगत संकल्पों से विरोध नहीं है; अर्थात्, वह व्यक्तिगत संकल्प जिसका उद्देश्य सबों का हित-साधन है, जिसमें व्यक्ति का हित भी सन्निहित है, न कि दूसरों के मूल्य पर व्यक्ति का हित साधन, अतएव अनिवार्यतः यह सदा विवेकशील तथा सदा उचित है।

यह वास्तव में समस्त व्यक्तिगत संकल्पों में जो सर्वोत्कृष्ट सत्य है उसी का परिष्कृत तथा शोधित सार है, परन्तु यह उन संकल्पों के योगफल से पूर्णतः भिन्न है। अतएव केवल सामान्य संकल्प में अपने संकल्प की अभिव्यक्ति के द्वारा ही व्यक्ति यथार्थतः अपने सर्वोच्च विचारों का बाह्यीकरण कर सकता है। इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य के कार्य जहां तक वे सामान्य संकल्प पर आधारित हैं सदैव पूर्णरूपेण उचित होंगे क्योंकि वे, वैयक्तिक संकल्पों में जो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, उसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

राज्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि राज्य क्योंकि एक यथार्थ व्यक्ति है इसलिये स्वयं साध्य है तथा विरोध की दशा में तथाकथित व्यक्ति के अधिकारों को इसके अधिकार अनिवार्यतः रद्द कर देते हैं। 'तथाकथित' शब्द का प्रयोग इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये किया गया है कि व्यक्ति के ऐसे **यथार्थ** अधिकार हो ही नहीं सकते जिनका राज्य से विरोध हो, क्योंकि व्यक्ति के **यथार्थ** अधिकार वे नहीं हैं जो वह अपने साथ एक कल्पित पूर्व-सामाजिक प्राकृतिक अवस्था से लाया है। इनसे तात्पर्य उन उद्देश्यों के अनुसरण तथा प्राप्ति के अधिकारों से है जिनको उसकी पूर्ण-विकसित प्रकृति उसके सम्मुख उपस्थित करती है। परन्तु उसकी प्रकृति इन उद्देश्यों के अनुसरण की इच्छा, उसके समाज की सदस्यता के कारण करती है; अर्थात्, इसके लिये वह समाज का ऋणी है। इसलिए जिन उद्देश्यों के अनुसरण की व्यक्ति इच्छा करता है न केवल उनकी उत्पत्ति के लिये ही समाज उत्तरदायी है, प्रत्युत उनको प्राप्त करने का अधिकार भी समाज ही प्रदान करता है। परन्तु व्यक्ति अपने अधिकारों को राज्य से प्राप्त करता है, इसलिये उसके ऐसे अधिकार हो ही नहीं सकते जिनका राज्य के अधिकारों से विरोध हो।

सामान्य संकल्प, राज्य के व्यक्तित्व तथा यथार्थ अधिकारों की प्रकृति के अध्ययन से हम राज्य के सम्बन्ध में, हेगेल के शब्दों में, इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "राज्य एक आत्म-चेतन नैतिक-तत्त्व तथा एक स्ववेदी (self-knowing) और स्वसाधक (self-actualizing) व्यक्ति है।"

इस धारणा से तीन किंचित विरोधाभासी परिणाम निकलते हैं : प्रथम, राज्य सदा प्रतिनिधि रूप में कार्य करता है। एतदर्थ, जो पुलिस का सिपाही चोर को पकड़ता है, तथा जो दण्डाधीश उसे बन्दीगृह में भेजता है, वे यथार्थतः पकड़े जाने तथा बन्दीगृह में भेजे जाने के चोर के ही यथार्थ संकल्प की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। पुलिस का सिपाही तथा दण्डाधीश राज्य के अधिशासी कर्मचारी हैं और राज्य अनिवार्यतः उस चोर के यथार्थ संकल्प का प्रतिनिधित्व तथा उसकी अभिव्यक्ति करता है क्योंकि वह उसका एक सदस्य है। जिस स्वतंत्रता की प्राप्ति मनुष्य को राज्य में तथा राज्य द्वारा होती है वह यथार्थ तथा मूर्त स्वतन्त्रता है और इसके विपरीत एक अकेले व्यक्ति के रूप में जिस स्वतन्त्रता का वह उपभोग करता है वह असत्य तथा अमूर्त्त है, इसलिये बन्दीगृह को चोर का ले जाया जाना उसका स्वतन्त्र आचरण है। वस्तुतः स्वतन्त्रता तथा विधि के मध्य पूर्ण एक-समता स्थापित हो जाती है। यथार्थ स्वतन्त्रता की प्राप्ति केवल विधि-पालन द्वारा ही होती है।

द्वितीय स्थान में, न केवल व्यक्ति के समाज के प्रत्येक अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध, परन्तु राज्य से भी जो उसके सम्बन्ध हैं, वे उसके व्यक्तित्व के अखंड अंग हैं। इन सम्बन्धों के बिना वह जो कुछ है वह नहीं रहेगा और इन्हीं के द्वारा वह जो कुछ है वह है। फलस्वरूप, उसका आचरण केवल राज्य के सदस्य के रूप में ही सम्भव है न कि एक अकेले व्यक्ति के रूप में और उसका संकल्प विशुद्धतः वैयक्तिक नहीं हो सकता इसमें राज्य के संकल्प का एक भाग अवश्य ही वर्त्तमान होगा। डॉ. बोसांके के अनुसार राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने में भी व्यक्ति के संकल्प का राज्य के संकल्प के अतिरिक्त कोई अन्य स्रोत नहीं है। विद्रोही को राज्य से ही इस संकल्प की प्राप्ति होती है, वास्तव में यह राज्य-संकल्प का ही भाग है। संक्षेप में, विद्रोह के समय राज्य अपने ही विरुद्ध विभाजित हो जाता है।

तृतीयतः, समस्त नागरिकों का समाज-धर्म (soical morality) राज्य में निहित है तथा राज्य इसका प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार

राज्य के व्यक्तित्व में इसके समस्त नागरिकों का व्यक्तित्व मग्न हो जाता है तथा वह उनसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार राज्य में सन्निहित समाज-धर्म में व्यक्तियों के पारस्परिक नैतिक-सम्बन्ध मग्न हो जाते हैं और वह उनसे श्रेष्ठ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य स्वयं नैतिक है, अथवा यह अपने आचरण में नैतिक सम्बन्धों से बंधा है। नैतिक सम्बन्धों के लिये दो पक्षों का होना आवश्यक है, परन्तु राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई पक्ष सम्भव नहीं क्योंकि यह स्वयं ही सब पक्षों का योग है। जैसा हम देख चुके हैं, जहां तक अन्य राज्यों की सत्ता का सम्बन्ध है, अर्थात् राज्य-क्षेत्र से बाह्य-स्थित पक्ष, उनकी पूर्णतः उपेक्षा की गई है। डॉ. बोसांके इस विचारधारा को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं: "राज्य का एक विशालतर समुदाय में कोई निर्धारित कार्य नहीं है, यह स्वयं ही सर्वोच्च समुदाय है। यह एक संगठित नैतिक लोक में एक कारक मात्र नहीं है, अपितु इस समस्त लोक का संरक्षक है।" इसी विचार को वह स्पष्ट रूप से इस संक्षिप्त कथन में व्यक्त करते हैं: "यह स्वीकार करना कठिन है कि राज्य उस अर्थ में चोरी या हत्या कर सकता है जिस अर्थ में ये नैतिक अपराध हैं।"

यह निष्कर्ष स्वाभाविकतः राज्य के निरंकुशतावादी सिद्धान्त की ओर ले जाता है। राज्य सिद्धान्त रूप से प्रत्येक समय, व्यवहार में युद्धकाल में, विधिपूर्वक अपने नागरिकों के जीवन के ऊपर पूर्ण सत्ता का अधिकारी है, क्योंकि राज्य में शासक तथा शासित एक ही हैं, तथा राज्य की आज्ञाएं जो इनका पालन करते हैं, उनके यथार्थ संकल्पों से अनुप्राणित हैं, चाहे वे अनिच्छापूर्वक ही इन आज्ञाओं का पालन करते हों, इसलिये राज्य के विरोध का न सिद्धान्ततः और न विधितः कोई आधार है। आपत्काल में राज्य जो चाहे कर सकता है और इसके निर्णय का अधिकार भी केवल राज्य को ही है। डॉ. बोसांके के अनुसार, "आवश्यकता के समय, जिसका कि संविधानिक पद्धति से यही एकमात्र निर्णायक है," राज्य अपने नागरिकों के प्राणों की मांग कर सकता है। इस सिद्धान्त का विशिष्ट तार्किक विकास युद्धकाल में राज्य की

सर्वशक्तिशालिता में दृष्टिगोचर होता है। हेगेल ने लिखा है कि "युद्ध की दशा राज्य की सर्वशक्तिशालिता को इसके व्यक्तित्व में प्रदर्शित करती है। उस समय देश तथा पितृभूमि के सम्मुख व्यक्ति की स्वतन्त्रता लुप्त हो जाती है।"

यह सत्य है कि कुछ आंग्ल विचारकों ने निरंकुशतावाद के इन सब निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया है। कम से कम उन्होंने उन्हें उस रूप में नहीं अंगीकार किया है जैसा हम जर्मन लेखक बर्नहार्डी ( Bernhardi ) तथा ट्राइट्स्खे ( Treitschke ) में पाते हैं। टी० एच० ग्रीन, जो कि उपर्युक्त यथार्थ अधिकार सिद्धान्त का प्रतिपादक था, यह मानता था कि व्यक्ति का अन्य अधिकारों के साथ एक अधिकार 'जीवन का अधिकार' भी है। युद्धकाल में राज्य की असीमित तथा निरपेक्ष सत्ता का सिद्धान्त स्पष्टत: इस अधिकार के लिये घातक था। अतएव ग्रीन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि युद्ध कभी भी पूर्ण-रूपेण उचित नहीं माना जा सकता, अधिकाधिक इसका सापेक्षिक औचित्य हो सकता है। उसके अनुसार युद्ध किसी राज्य विशेष का अपनी अपूर्ण वास्त-विकता में गुण है न कि पूर्ण राज्य का। परन्तु ग्रीन ने इससे सम्बन्धित इस प्रश्न पर विचार नहीं किया कि क्या व्यक्ति को किसी युद्ध विशेष के विषय में जो पर्याप्त मात्रा में 'सापेक्षत: उचित' नहीं है, यह निर्णय करने का अधिकार है कि इसमें भाग लेकर उसे अपने तथा दूसरों के यथार्थ 'जीवन-अधिकार' को संकट में नहीं डालना चाहिये। इसी प्रकार उसने इस अगले प्रश्न का भी उत्तर नहीं दिया है कि राज्य किस सीमा तक ऐसे विरोधी व्यक्तियों के जीवन-अधिकार का उल्लंघन कर सकता है जो किसी युद्ध को सापेक्षत: अनुचित मानते हैं।

कुछ आंग्ल लेखकों द्वारा किये गये इन संशोधनों के अतिरिक्त, जो कि स्यात् अधिक संगत नहीं, इस सिद्धान्त की सामान्य प्रवृत्ति स्पष्ट है। राज्य मानवीय संगठन का स्वाभाविक, अनिवार्य, तथा चरम रूप है। अपनी पूर्णता में यह सर्वशक्तिशाली तथा निरपेक्ष है। वास्तविक राज्य केवल उसी मात्रा

तक राज्य हैं जहां तक उनमें पूर्ण राज्य के गुण वर्त्तमान हैं। वे दिशाएं जिनमें वास्तविक राज्य सर्वशक्तिशाली राज्य से हीन हैं, निन्दनीय हैं। अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक राज्य की आवश्यकता है, न कि कम। राज्य का अपना एक यथार्थ व्यक्तित्व तथा यथार्थ संकल्प है क्योंकि ये व्यक्तियों के व्यक्तित्व तथा संकल्पों में वर्त्तमान सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों से निकले हैं, इसलिये यदि नैतिक गुणों से नहीं तो कम से कम दिव्य-कल्प (quasi-divine) गुणों से विभूषित हो जाते हैं। एतदर्थ, राज्य अपने सर्वातिशायी चरित्र तथा अपने सदस्यों में श्रद्धा और त्याग की भावना अनुप्राणित करने के कारण, उनके व्यक्तित्व का, उन्हें क्षुद्र उद्देश्यों और स्वार्थपरता से शुद्ध करके विस्तार करता है। हेगेल ने लिखा है, "यह व्यक्ति को जिसकी प्रवृत्ति स्व-निष्ठित है, पुनः विश्व-तत्त्व के जीवन में ले जाता है।"

इस स्पष्ट आपत्ति के विरुद्ध कि किसी भी वास्तविक राज्य ने कभी भी इन कार्यों को नहीं किया, निरंकुशतावादी का यह उत्तर है कि वह वास्तविक राज्यों की रीति का नहीं अपितु आदर्श राज्य के गुणों का वर्णन कर रहा है। तथा ऐसा करना उसके लिये स्वाभाविक है क्योंकि आदर्श राज्य ही यथार्थ तथा सत्य रूप से राज्य है और वास्तविक राज्य, जिस मात्रा तक आदर्श राज्य से हीन हैं, उस मात्रा तक राज्य नहीं हैं।

### ३. सिद्धान्त की आलोचना :

जैसा हमें अगले अध्यायों में इंगित करने का अवसर होगा, हाल के वर्षों में निरंकुशतावाद के विरुद्ध राजनीतिक दर्शन में स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई है। इसकी भर्त्सना की गई है कि यह सिद्धान्त में विकृत तथा वास्तविकता से दूर है और परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में विद्यमान राज्यों के धर्माधर्मशून्य कार्यों को भी इसका समर्थन प्राप्त होने का भय है। कुछ स्थलों में यह प्रतिक्रिया इस सीमा तक हुई है कि समाज में राज्य की अथवा किसी भी अन्य संप्रभुसत्ता की आवश्यकता को ही अस्वीकार कर दिया गया है। हम संक्षेप में पहले इस सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई गई सैद्धान्तिक आपत्तियों पर और दूसरे उन तथ्यों पर, जिनकी

आलोचकों के अनुसार, इस सिद्धान्त द्वारा उपेक्षा की गई है, विचार करेंगे।

(अ) **सैद्धान्तिक आपत्तियां :** यह धारणा स्पष्टत: तथ्यों के प्रतिकूल है कि राज्य सम्पूर्ण मानव समाज से एक-सम है। इस कारण इस धारणा पर आधारित निष्कर्ष दोषपूर्ण हैं। एतदर्थ, यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि अपने सदस्यों के सम्बन्ध में राज्य पूर्णत: सर्वशक्तिशाली है, यह दावा स्पष्ट रूप से केवल इसी आधार पर माना जा सकता है कि राज्य अपने संकल्प में अपने समस्त सदस्यों के संकल्पों का प्रतिनिधित्व करता है तथा उनसे परे है। इस धारणा में यह संकेत अवश्य नहीं है कि राज्य अन्य राज्यों के नागरिकों के संकल्पों का भी प्रतिनिधित्व करता है; अतएव उनके सम्बन्ध में यह सर्वशक्तिशाली नहीं। क्योंकि राज्य की नैतिक बन्धनों से मुक्ति इसी धारणा पर आधारित है कि वह सर्वशक्तिशाली है, फलत: किसी भी दशा में यह मुक्ति राज्य तथा अन्य राज्यों के मध्य सम्बन्धों पर लागू नहीं हो सकती। निश्चय ही अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों में राज्य "समस्त लोक का संरक्षक" न होकर "संगठित नैतिक लोक में एक कारक" मात्र है। फलस्वरूप, अन्य राज्यों से व्यवहार में, राज्य के अनैतिक आचरण का उसी प्रकार कोई औचित्य नहीं है, जिस प्रकार, राज्य के अतिरिक्त किसी स्वैच्छिक संघ का अन्य स्वैच्छिक संघों से अपने व्यवहार में नहीं हो सकता।

यदि व्यक्तिगत सम्बन्धों में नैतिकता को वस्तुत: एक सम्भाव्य निर्देशक सिद्धान्त माना जाता है तो कोई कारण नहीं कि क्यों यह अचानक व्यक्ति समूहों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निर्देशक सिद्धान्त न मानी जाय। यदि एक समय यह स्वीकार कर लिया जाय तो यह समझना अत्यन्त कठिन है कि क्यों राज्य के लिये "एक नैतिक अपराध के रूप में चोरी या हत्या" करना किसी चर्च या व्यावसायिक संस्था की अपेक्षा अधिक दुष्कर है।

किन्तु क्या राज्य का अपने सदस्यों के साथ सम्बन्ध का प्रश्न इससे मूलत: भिन्न है? हम इस कथन को स्वीकार कर सकते हैं कि केवल सामाजिक जीवन द्वारा ही व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण प्रकृति का विकास कर सकता है

अतएव केवल समाज में ही वह वास्तविक रूप से स्वतन्त्र है। यह सत्य है कि किसी द्वीप में पड़ा हुआ अकेला व्यक्ति भी स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता इस अर्थ में निस्सार है कि यद्यपि वह सब कुछ करने के लिये स्वतन्त्र है तथापि वास्तव में वह कुछ भी नहीं कर सकता। परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि राज्य की सर्वशक्तिशालिता का सिद्धान्त सत्य है। राज्य व्यक्तियों के लिये है, न कि व्यक्ति राज्य के लिये। स्वतन्त्रता का केवल व्यक्ति के लिये ही अर्थ है। समाज तथा राज्य का कल्याण उस समय तक निरर्थक तथा निर्मूल्य है जब तक इसका अर्थ उन व्यक्तियों का भी कल्याण न हो जिनसे राज्य की रचना होती है, अर्थात्, राज्य तथा समुदाय स्वयं साध्य नहीं हैं।

यह समझ में आ जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी राज्य-सिद्धान्त जो इस सम्भावना को स्वीकार करता है कि राज्य का कल्याण व्यक्तियों के कल्याण से पृथक या उनके सुख को त्याग कर प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि राज्य का व्यक्तित्व व्यक्तिगत व्यक्तित्वों को धारण करता है तथा उनसे परे है, वास्तव में साधन को साध्य समझ रहा है। इस आलोचना के विरुद्ध इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह तर्क नितान्त अवैध है कि राज्य के लिये व्यक्ति के सुख के मूल्य पर अपने सुख की वृद्धि करना या उसके ऊपर अत्याचार करना असम्भव है, क्योंकि राज्य तथा व्यक्ति के सुख के मध्य कोई भेद नहीं तथा व्यक्तियों के ऊपर अत्याचार करते समय भी राज्य का संकल्प उन व्यक्तियों का ही संकल्प है जो उस अत्याचार से पीड़ित हैं। किसी संघ का मेरे मत तथा संकल्प के विरुद्ध किया गया निर्णय केवल इस बात पर मेरा व्यक्तिगत निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि मैं उस संघ का एक सदस्य हूं। जिस प्रकार एक क्रिकेट क्लब में यह चमत्कार सम्भव नहीं है कि बहुसंख्यकों का निर्णय अल्पसंख्यकों का भी निर्णय मान लिया जाय, उसी प्रकार, क्योंकि व्यक्ति राज्य में साथ साथ रहते हैं इससे ऐसा सामाजिक चमत्कार नहीं होता, जिससे प्रजातंत्र की क्रिया द्वारा, उनका संकल्प पूर्णतः अपना विरोधी हो जाय।

यथार्थ संकल्प (real will) जिससे मैं अपरिचित हो सकता हूं तथा अयथार्थ संकल्प (unreal will) जिसका मुझे साधारणतः ज्ञान रहता है, के मध्य किये गये भेद में भी कुछ सार नहीं है। यथार्थ संकल्प का लक्षण यह बतलाया गया है कि यह उस संघ के, जिसका मैं सदस्य हूं, प्रत्येक बहुसंख्यक-निर्णय का पालन करता है, यद्यपि मेरा यह निश्चित विश्वास है कि उक्त निर्णय सर्वथा अनुचित हैं। अतएव यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि व्यक्ति को एक यथार्थ-संकल्प से युक्त बतलाना, जो कि सदा तथा अनिवार्यतः सामाजिक-संकल्प के अनुरूप है तथा उसीमें मग्न हो जाता है, केवल मात्र एक स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश राज्य के कार्यों को न्याय तथा लोकतन्त्र का रूप देने की युक्ति है। राज्य का निरंकुशतावादी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता का शत्रु है, क्योंकि इसके अनुसार व्यक्ति तथा राज्य के मध्य संघर्ष में राज्य का पक्ष ही सर्वदा न्यायोचित है।

परन्तु इस दृष्टिकोण से असहमति का कि व्यक्ति तथा राज्य के संकल्प सदा समरूप हैं यह अभिप्राय नहीं कि वे सदा विरोधी हैं। इस समस्या का समाधान नहीं करना है कि किस प्रकार समाज तथा व्यक्ति के स्वत्वों को संतुलित किया जाय। मुख्य प्रश्न जिसका निर्णय करना है यह है कि किस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत व्यक्ति अधिकाधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है।

**(ब) व्यावहारिक समीक्षा :** जब समस्या उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत की जाती है तब विचारक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह गत अर्ध-शताब्दि में विशेष प्रयोजनों के हेतु संगठित संघों की संख्या में जो असाधारण वृद्धि हुई है उस पर ध्यान दे। व्यक्तियों के ये संघ मुख्यतः दो प्रकार के हैं— आर्थिक उद्देश्यों के लिये तथा नैतिक उद्देश्यों के लिये।

आर्थिक संघों की वृद्धि का मुख्य कारण संचारण की सुविधाओं की उन्नति है जिसके कारण आर्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण सभ्य संसार एक सामाजिक इकाई हो गया है। यद्यपि राजनीतिक पक्ष में मनुष्य समाज अनेक स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्यों

में विभक्त है तथापि आर्थिक पक्ष में इसमें वह सावयवी-अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है जो आदर्शवाद के अनुसार राज्य का सार है। अर्थात्, इसके एक भाग का आर्थिक कल्याण दूसरे भागों के कल्याण पर निर्भर है। नॉर्मन एंजेल (Norman Angell) के शब्दों में "तार (telegraph) सम्पूर्ण सभ्य समाज में एक साख व्यवस्था (system of credit) का सूचक है; और यह साख व्यवस्था राज्यों की पारस्परिक-निर्भरता सिद्ध करती है।"

आर्थिक संघों की वृद्धि का प्रभाव इससे स्पष्ट हो जाता है कि धनोपार्जन में समान हितों पर आधारित आर्थिक सम्बन्धों ने राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्थान ले लिया है, जिनका आधार एक ही देश में जन्म है तथा जो पहले मानवीय संघों का यदि एकमात्र नहीं तो प्रमुख आधार थे। उदाहरणार्थ, आज के समाज में लन्दन में एक प्रमण्डल (company) के ऐसे सदस्य का जिसका उद्देश्य ब्राज़ील से नारंगियों का आयात करना है, ब्राज़ील निवासियों की सफलता तथा कुशलता की वृद्धि में अपने निकट पड़ोसी के—जिससे वह अपरिचित हैं और परिचय होने पर जिसके प्रति शायद उसकी अवज्ञा ही होती—कल्याण की अपेक्षा अधिक अनुरक्त होना स्वाभाविक है।

मानवीय-संघों के आधारों की प्रकृति में तथा परिणामस्वरूप व्यक्ति के अनुरागों की दिशा में यह परिवर्त्तन एक ऐसे सामाजिक संगठन की सम्भाव्यता को प्रकट करता है जिसका आधार राष्ट्रीयता के स्थान पर आर्थिक-हितों की सादृश्यता होगा।

नैतिक उद्देश्यों के लिये निर्मित संघों के विषय में भी यही सत्य है। उन्नीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी विचारधारा के फलस्वरूप यूनानियों के इस नैतिक सिद्धान्त को अब सामान्यत: नहीं माना जाता है कि व्यक्ति के लिये केवल एक या अधिकाधिक दो या तीन प्रकार के सद्-जीवन (good life) हैं, जिन्हें राज्य को बढ़ाना चाहिये। इसके प्रतिकूल अब यह विचार मान्य है कि व्यक्तियों के स्वभावानुसार सद्-जीवन के विषय में अनेक धारणाएं हो सकती

हैं तथा यह व्यक्ति का अधिकार है कि वह इनमें से अपने अभीष्ट के अनुसार आचरण करे। किसी युग विशेष की अस्पष्ट आकांक्षाएं तथा धार्मिक चेतना व्यक्तियों के द्वारा ही अभिव्यक्त होती हैं। एतदर्थ आचरण तथा धर्म के विषय में एकरूपता से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वतोभाविता (spontaneity) है।

आधुनिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलता तथा विषमता के कारण हमारी धार्मिक आवश्यकताएं भी पहले की भांति सरल नहीं रह गई हैं। इनकी सन्तुष्टि एक राज्याधीन धार्मिक-संगठन (church) द्वारा सम्भव नहीं। अतएव अनेक प्रकार के धार्मिक तथा नैतिक संघों का जन्म हो गया है। आर्थिक संघों की ही भांति इनकी सीमाएं भी राजनीतिक सीमाओं से स्वतन्त्र हैं तथा इनके अन्तर्गत अनेक राज्यों के सदस्य होते हैं। उदाहरणार्थ, हम थियोसोफिकल समाज, रोमन कैथोलिक चर्च अथवा क्रिश्चियन साइंस संगठन को ले सकते हैं।

इन संघों के प्रभाव के कारण राज्यानुमोदित लोक-सम्मत् नैतिकता का स्थान व्यक्तिगत नैतिकता ने ले लिया है। परिणामस्वरूप व्यक्ति राज्य के इस अधिकार को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है कि वह, उनके विचारानुसार सद्-जीवन के अनुसरण में, उनसे हस्तक्षेप करे। सामाजिक जीवन में विशेषतः राजनीति के क्षेत्र में, नैतिकता का स्तर बहुधा व्यक्तिगत जीवन से नीचा ही दिखलाई देता है। केवल बाह्य रूप से राज्य-विधियों के पालनार्थ उच्च कोटि की नैतिकता आवश्यक नहीं। इसलिये विधि का पालन करनेवाला व्यक्ति नैतिक ही हो आवश्यक नहीं है। बहुधा यह देखा जाता है कि एक विधि-निर्माता नागरिक अनैतिक होता है।

ऐसी परिस्थितियों में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ऐसे नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में, जिनमें व्यक्ति राज्य से सहमत नहीं है, वह इस अधिकार की मांग करे कि वह स्वयं ही उनका निर्णय करेगा। यह भी स्वाभाविक है कि ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में वह अधिकाधिक उस नैतिक अथवा आर्थिक स्वैच्छिक-संघ के स्वत्व को, जिसका वह सदस्य है, राज्य के ऊपर स्थान देगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा की गई है। अतएव डॉ. वोसांके का यह कथन नहीं माना जा सकता है कि "आवश्यकता के समय, जिसका संविधानिक पद्धति से यही एकमात्र निर्णायक है, राज्य व्यक्ति को बाह्य-कार्यों में, केवल अपने प्रति भक्ति के अतिरिक्त, अन्य किसी संस्था के प्रति भक्ति नहीं प्रकट करने देगा।"

विशेषतः यह सिद्धान्त इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि व्यक्ति के जीवन के अन्तरंग पक्षों का प्रतिनिधित्व अब उपर्युक्त प्रकार के स्वैच्छिक-संघों द्वारा ही किया जाता है। उसकी आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक आवश्यकताएं इन संघों द्वारा ही सन्तुष्ट की जाती हैं। इन संघों का क्षेत्र राज्य से भिन्न है तथा भौगोलिक आधार पर स्थापित राज्य सीमाओं के स्थान पर ये एक नवीन रीति से समाज का स्तर-विन्यास करते हैं।

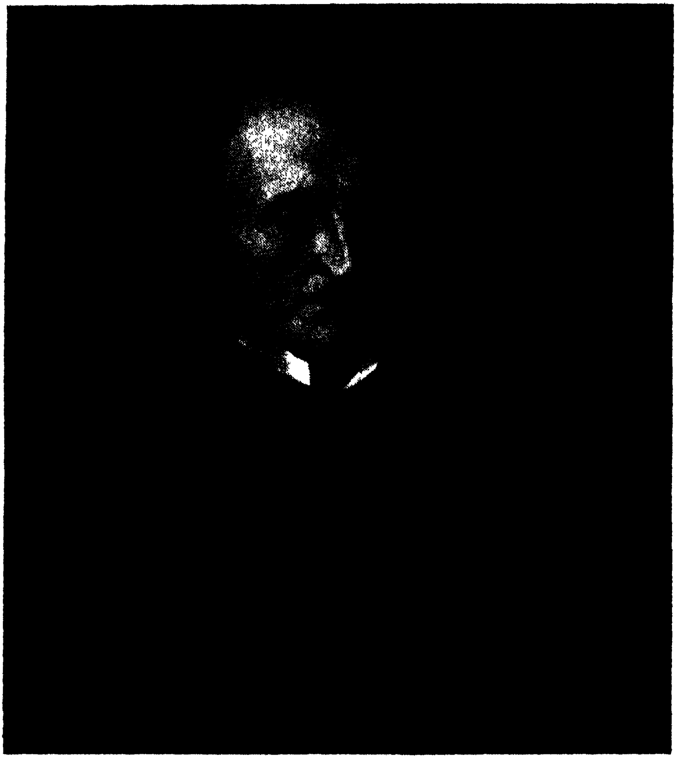
यद्यपि बीसवीं शताब्दि के प्रथम दस वर्षों में राज्य के कार्यों में अत्यन्त वृद्धि हुई है तथापि यह सत्य है कि व्यक्ति के जीवन में इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। यहां तक कि साधारण व्यक्ति का राज्य से सम्पर्क केवल थोड़े से ही सीमित अवसरों पर होता है, जैसे, करों को देते समय, जूरी सेवा में या मतदान के समय।

इसलिये एक ऐसा नवीन राजनीतिक दर्शन जो कि इन संघों की सत्ता को स्वीकार करे, राज्य के ऊपर इनके प्रभाव का अध्ययन करे, राज्य और इनके स्वत्वों के मध्य संतुलन स्थापित करे, तथा इन दोनों के मध्य कार्य-क्षेत्र का विभाजन करे, आदर्शवादी सिद्धान्त से अधिक सुस्थापित सामाजिक तथ्यों के अनुकूल होगा। आदर्शवाद तो राज्य को एक आत्मनिर्भर तथा पूर्ण इकाई मानता है, जिस पर स्वभावतः ही इन स्वैच्छिक संघों के साथ किसी प्रकार के बाह्य-सम्बन्धों का प्रभाव नहीं होता, क्योंकि इसके विराट स्वरूप में ही इन समस्त सम्बन्धों के तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

आदर्शवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया निम्नोक्त दो में से एक रूप धारण करती

है। एक तो यह है कि सामान्य-संकल्प और राज्य के यथार्थ व्यक्तित्व के सिद्धान्तों को केवल इसलिये स्वीकार कर लिया जाता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि ये वास्तव में स्वैच्छिक संघों के गुण हैं। दूसरा रूप यह है कि सामान्य-संकल्प तथा यथार्थ व्यक्तित्व के सिद्धान्तों को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया जाता है और यह कहा जाता है कि राज्य एक प्रशासकीय-यन्त्र मात्र है तथा भविष्य में स्वैच्छिक-संघों के संगठनों द्वारा यह स्थानच्युत कर दिया जायगा।

इस पुस्तक के अगले पृष्ठों में जिन सिद्धान्तों पर विचार किया जायगा उनमें से अधिकांश राज्य के विरोधी हैं तथा उपर्युक्त प्रतिक्रिया को ही नाना रूपों में प्रदर्शित करते हैं। अधुना सामान्य प्रवृत्ति संघों के यथार्थ अस्तित्व तथा व्यक्तित्व को स्वीकार करने की है। अगले तथा श्रेणी-समाजवादवाले अध्याय में हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिनके अनुसार राज्य के अनेक कार्यों को स्वैच्छिक संघों को हस्तान्तरित कर देना चाहिये।



जॉन स्टुअर्ट मिल

# २

# आधुनिक व्यक्तिवाद

**परिचय :**

सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन के रूप में व्यक्तिवाद उन्नीसवीं शताब्दी की देन है। इस रूप में सर्वप्रथम बेन्थम और जेम्स मिल द्वारा इसका प्रवर्त्तन हुआ और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेन्सर की पुस्तकों में देखी जा सकती है। सन् १८८० के पश्चात् इसकी शक्ति और प्रभाव क्षमता का ह्रास होने लगा, और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक व्यक्तिवाद का स्थान राज्य के निरंकुशतावादी सिद्धान्त ने ग्रहण कर लिया था।

अतएव आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय मात्र प्रस्तुत करने वाली इस जैसी किसी पुस्तक में विक्टोरिया-युग के व्यक्तिवाद का विवरण देने की वास्तव में कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम यदि आधुनिक व्यक्तिवाद का सही चित्र देखना चाहते हैं और यदि यह भी चाहते हैं कि पुराने सिद्धान्त के आधार पर किस प्रकार इसकी स्थापना हुई तो यह वांछनीय है कि संक्षेप में उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद की मुख्य विशेषताएं अंकित की जाय।

**उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्तिवाद :** उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का सर्वाधिक पूर्ण विवरण हमें जॉन स्टुअर्ट मिल के दो निबन्धों में मिलता है। इन निबन्धों के शीर्षक हैं "स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में" तथा "प्रतिनिधि शासन"। अन्य उपयोगितावादियों की भांति मिल भी कल्पनाशील राजनीति के विरुद्ध है। इस प्रकार की राजनीतिक कल्पनाओं का पूर्ण विकास उन सिद्धान्तों के रूप में हुआ जिन पर गत अध्याय में विचार किया गया है। मिल का आग्रह था कि प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न पर मनुष्य-मात्र को प्राप्त होने वाले सुख तथा दुख की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिये। वह न्यायविदों तथा हेगल के अनुयायियों की

भांति सामान्य-संकल्प या राज्य के व्यक्तित्व के आधार पर किसी समस्या पर विचार किये जाने की पद्धति के विरुद्ध था। अतएव, जहां एक ओर मिल ने राज्य की स्वेच्छाचारिता के समर्थकों का यह निष्कर्ष मान लिया था कि राज्य स्वाभाविक रूप से विकसित होनेवाली वस्तु या सावयव है और व्यक्ति अपने स्वभाव में निहित क्षमताओं के अनुसार राज्य में रहकर ही पूर्ण सुख प्राप्त कर सकता है, वहीं उसका यह भी मत था कि उक्त निष्कर्ष को मान लेने का अर्थ यह नहीं है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के सुख के लिये नहीं है। इससे मिल यह निष्कर्ष निकालता है कि शासन या सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियों के लिये ऐसे कार्य करे जिससे उनके सुख में वृद्धि हो, और यदि राज्य ऐसा करने में सफल नहीं होता है तो राज्य को अपना स्थान किसी अन्य उत्तराधिकारी सामाजिक संघठन के लिये रिक्त कर देना चाहिये।

मिल का मुख्य सिद्धान्त यह है कि यदि राज्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे तो वह व्यक्ति को अधिकाधिक सुख दे सकता है, विशेषतः विचारों के विषय में मिल का यही दृष्टिकोण है। "स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में" शीर्षक मिल का निबन्ध सम्भवतः विचार स्वतन्त्रता के औचित्य के पक्ष में सबसे अधिक प्रसिद्ध निबन्ध है तथा समस्त साहित्य में विचार सहिष्णुता के सम्बन्ध में इससे अधिक शक्तिशाली तर्क नहीं है। वह कहता है कि मत की स्वतन्त्रता 'सनकियों' को भी मिलनी चाहिये। उसके उक्त कथन का आधार यह था: दस में से नौ सनकी ऐसे मूर्ख होते हैं जिनसे किसी की कोई हानि नहीं होती, लेकिन दसवां सनकी समूची मानव जाति के लिये उन सब से अधिक मूल्यवान है जो उसे अपने विचार व्यक्त करने से रोक रहे हैं। मिल ने न केवल उसकी राज्य के हस्तक्षेप और दमन से ही रक्षा की है अपितु उसे रूढ़िवादी जनमत के संपीड़न से भी बचाने का प्रयास किया है। भीड़ के साथ मिलकर लोग जिस तरह सोचते हैं उस सोचने के ढंग से मिल को एक विशेष प्रकार का भय है। वह उस जनसमूह के आततायित्व से भी आतंकित-सा लगता है, जो कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के निजी समाचारपत्रों के प्रचार के

चिष के नशे में आकर, अपने मतों और दृष्टिकोणों का निर्धारण करता है। वह किसी सार्वजनिक स्कूल के बालकों की सामूहिक भावना के उस भ्रष्ट स्वरूप से भी डरता है जिसके प्रवाह में नये और अरक्षित विद्यार्थी को केवल इसलिये घोर मानसिक व्यथा झेलनी पड़ती है क्योंकि उसके कोट में बटनों की संख्या औरों से कम या अधिक है अथवा उसका उपनाम बोलने में कुछ नया या विचित्र-सा लगता है।

मिल का तर्क है कि यदि लोकमत कुछ मतों के विरुद्ध है तो इसका (नीचे दिये गये अपवादों के अतिरिक्त) यह अर्थ कदापि नहीं है कि उक्त मतावलम्बियों का दमन करने का सरकार को न्यायसंगत अधिकार प्राप्त है, क्योंकि सरकार का यह काम है कि वह सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करे, और सुख का अर्थ व्यक्तियों का सुख होता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि सरकार को अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोणों का दमन करके उनके सुख में हस्तक्षेप करने का न्यायोचित अधिकार प्राप्त नहीं है, उस समय भी नहीं जब कि बहुत से ऐसे व्यक्तियों का पुष्ट समर्थन भी सरकार को प्राप्त हो जो अल्पसंख्यकों के मतों के विरुद्ध हों। मिल का कथन था, "मानव जाति को इस बात से कहीं अधिक लाभ होगा कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अन्य व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीवन-यापन करने दे, न कि प्रत्येक व्यक्ति को उस ढंग से रहने के लिये बाध्य किया जाय जिस प्रकार शेष सारे व्यक्ति चाहते हैं कि वह रहे।"

परन्तु विचार-स्वातन्त्र्य का औचित्य सिद्ध करने का कार्य अपेक्षाकृत बड़ा सरल है। अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन बात तो आचरण की स्वतन्त्रता उपभोग करते हुए व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के अधिकार की स्थापना करना है। मिल ने कहा है कि आचरण की स्वतन्त्रता "मानव जीवन के सुख का एक मुख्य तत्त्व है और वही वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति का भी सबसे आवश्यक तत्त्व है।" मिल सब ऐसे मामलों में व्यक्तिगत आचरण की स्वतन्त्रता की मांग करता है जो कि समाज को प्रभावित नहीं करते हैं। उन मामलों में जिनमें व्यक्ति का आचरण समाज को प्रभावित करता है, समाज को व्यक्ति पर अंकुश

रखने का अधिकार है यदि उसका आचरण सामाजिक कल्याण की दृष्टि से हानिकारक है। सामाजिक कल्याण के मार्ग में बाधा डालने वाला आचरणों पर अंकुश रखने का समाज का यह अधिकार ही वह अपवाद है जिसकी ऊपर चर्चा की गई थी, और जिसके अधीन विचार स्वातन्त्र्य का क्षेत्र भी है।

मिल के इस सिद्धान्त की कठोर आलोचना की गई है जिसके आधार पर व्यक्ति के आत्मगत् कार्यों ( self-regarding action ) और समाजगत् कार्यों ( other regarding actions ) का विभेद किया गया है। आलोचकों ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक यह बताया है कि उक्त दो वर्गों के कार्यों के मध्य सीमा रेखांकित करना असम्भव है, और चूंकि हम सब एक ही समाज के सदस्य हैं, इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि हमारे हर कार्य का प्रभाव किसी न किसी अंश में समाज के अन्य सदस्यों पर पड़े। लेकिन मिल मूर्ख नहीं था और न वह यही समझता था कि उक्त अन्तर को गणित की परिच्छिन्नता से प्रयुक्त किया जा सकता है। उसके लिये इतना ही पर्याप्त था कि उक्त सिद्धान्त से मोटे तौर पर सहायता ली जा सकती है। इस सिद्धान्त द्वारा कि आचरण की स्वतन्त्रता सामान्य नियम होना चाहिये जब तक कि इसके विरुद्ध कोई दृढ़ कारण न हो, गत अध्याय में वर्णित सिद्धान्तों के कारण निर्बल हुए व्यक्ति के पक्ष को संपुष्टता प्रदान होती है। इन सिद्धान्तों ने व्यक्ति की 'यथार्थ स्वतन्त्रता' का अर्थ राज्य के संकल्पानुकूल आचरण को बतलाकर, व्यक्ति की प्रत्यक्ष स्वतन्त्रता, जिससे वह परिचित है और जिसका वह उपभोग करता है तथा उसकी 'यथार्थ' स्वतन्त्रता जिससे वह अपरिचित है तथा जिसका उपयोग राज्य करता है, के मध्य मिथ्या अन्तर अंकित कर दिया था। व्यक्तिवादियों ने बहुधा इस ओर भी संकेत किया है कि सिद्धान्ततः यदि यह मान भी लिया जाय कि राज्य गलती नहीं करता तो भी व्यवहार में राज्य बहुधा गलतियां करता है और उसका यह दावा सही नहीं है कि वह समस्त भूलों से परे है। व्यवहार में राज्य कुछ अफसरों और

निरीक्षकों का समूह है। कभी ये लोग बुद्धिमान होते हैंऔर कभी मूर्ख,अतएव जिन व्यक्तियों पर वे अंकुश रखने के लिये तत्पर होते हैं उनसे वे किसी प्रकार भी अधिक सर्वज्ञ नहीं होते। मिल ने यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी ऐसा सिद्धान्त जो इन कर्मचारियों की ओर से यह दावा करता है कि वे व्यक्ति से अधिक उसके कल्याण को समझते हैं या व्यक्ति की स्वतन्त्रता क्या है, उससे अधिक जानते हैं, सर्वथा अनर्गल है।

इस प्रकार मिल के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का यह निष्कर्ष है कि राज्य के लिये सर्वोत्तम मार्ग यह है कि वह उस समय तक व्यक्ति के मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे जब तक व्यक्ति अन्य लोगों के मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। व्यक्तिवाद का यह विवरण ऐसा है जिसे पढ़ने के बाद उक्त सिद्धान्त के प्रति सम्मान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। अपने इस सुदृढ़ आधार के सहारे वह उन सब ऊँची से ऊंची राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति तक पहुंचता है जिसकी मनुष्य में क्षमता है। अन्तस्तल में सभी लोग शासन या सरकार को अनिवार्य कण्टक मानते हैं। कभी-कभी हम सब अराजकतावादी होते हैं और अराजकतावादी सिद्धान्त (जब हम उस पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे तब देखेंगे) मिल द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विस्तार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि मिल संप्रभुता को राज्य का अनिवार्य तत्व मानता था जब कि अराजकतावादी राज्य की संप्रभुता के दावे का भी खण्डन करते हैं। वे आत्मगत कार्यों और समाजगत कार्यों के मध्य आवश्यक भेद के महत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते।

आत्मगत और समाजगत कार्यों के मध्य व्यवहार में अन्तर स्थापित करने के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद में दो बड़ी गम्भीर त्रुटियाँ थीं। इन त्रुटियों के कारण तीस चालीस वर्षों तक व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध धारा प्रवाहित हुई। वास्तविकता यह है कि अभी हाल ही के कुछ वर्षों में व्यक्तिवाद में पुनः नवीन जीवनी-शक्ति के चिन्ह दिखलाई पड़े हैं और

व्यक्तिवाद का यह आधुनिक रूप ही, जिसे मिल से प्रेरणा प्राप्त हुई है, उसके सिद्धान्त की उन भयों से रक्षा करता है जो इसके सामने मुंह बाए खड़े हैं और जिन पर हम इस अध्याय में विचार करेंगे। लेकिन पहले हमें उन त्रुटियों पर विचार करना है, जिनके कारण लोगों ने पुराने व्यक्तिवाद की शिक्षाओं का परित्याग कर दिया।

**उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद के विरुद्ध आपत्तियां :**

(१) हर्बर्ट स्पेन्सर ने मिल के व्यक्तिवाद में डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त पर आधारित जीवशास्त्रीय विचारों का मिश्रण कर उसको नया वर्ण दिया। राज्य को एक सीमित-दायित्व कम्पनी की भांति उत्पत्ति की दृष्टि से अनुबन्धात्मक मानते हुए भी वह कुछ असंगत रूप से समाज को एक सावयव मानता है जिसका कि विकास हुआ । इस सावयव के उन सदस्यों का जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकते, सम्पूर्ण सावयव के हित में नष्ट हो जाना ही ठीक है, इसलिये अन्य सदस्यों का यह काम नहीं है कि वे निर्बल सदस्यों की रक्षा की व्यवस्था कर सम्पूर्ण सावयव को निर्बल रहने दें। इस प्रकार डार्विन के सूत्र 'योग्यतम के अति जीवन' (survival of the fittest) के आधार पर स्पेन्सर ने इस बात का विरोध किया है कि राज्य किसी भी प्रकार निर्धनों की सहायता करे या पीड़ितों या अभावग्रस्तों की कोई मदद की जाय। स्पेन्सर के अनुसार उन्नति तभी सम्भव है जब जीवन संग्राम में पिछड़नेवालों का नाश होता जाय। मिल की उदारतापूर्ण विचारधारा के इस विकास में बर्बरता की दिशा में प्रत्यावर्त्तन निहित था। इस नए भाव के कारण व्यक्तिवाद न केवल सामाजिक दृष्टिकोण से सोचनेवाले मनुष्यों की आँखों से उतर गया अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी उसके विशिष्ट परिणाम हुए।

(२) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का, जिसके महत्त्व का राजनीतिक क्षेत्र में अनुमानाधिक्य नहीं किया जा सकता, जब आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग किया गया, तो उसके अत्यन्त हानिकर परिणाम हुए।

बेन्थम का कहना था कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है, इसलिये हर व्यक्ति को अपने हितों को देख-भाल और साज-संभाल करने के लिये छोड़ दिया जाना चाहिये। इस सिद्धान्त का कि अन्य किसी से भी अधिक प्रत्येक मनुष्य स्वयं यह जानता है कि वह क्या चाहता है, और वह जो वह चाहता है उसे प्राप्त करने के लिये वह किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा जो कि उसके लिये कार्य करेगा, अधिक शक्ति और अधिक उद्योगपूर्वक कार्य करेगा, यह निष्कर्ष निकाला गया कि व्यक्ति के मामलों में न तो बाहरी हस्तक्षेप वांछनीय है और न यह आवश्यक है कि लोगों के पारस्परिक व्यवहारों को किसी प्रकार नियन्त्रित किया जाय। इस सामाजिक सिद्धान्त ने अपने काल के राजनीतिक अर्थ शास्त्र से सम्बद्ध होकर 'यद्भाव्यम् नीति' ( *laissez faire* ) के सम्पूर्ण सिद्धान्त को जन्म दे डाला। व्यक्तिवादियों ने उक्त सिद्धान्त को राजनीतिक अर्थ-शास्त्र की शिक्षा मानते हुए उसके आधार पर यह मानना आरम्भ कर दिया कि आर्थिक क्षेत्र में लोगों के पारस्परिक व्यवहार में हस्त-क्षेप करना न केवल अवांछनीय है अपितु अनिवार्यतः अप्रभावकारी भी है। भृत्ति का लौह सिद्धान्त (the iron Law of Wages), मांग और पूर्ति का लौह सिद्धान्त (the iron Law of Supply and Demand) तथा कुछ ऐसे ही अन्य सूत्र राजनीतिक-अर्थ-शास्त्रियों की पाठ्य-पुस्तकों में से निकाले गये और इनके आधार पर यह सिद्ध किया गया कि वेतन और उत्पादन के क्षेत्र में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण, उक्त बातों को स्वयमेव नियन्त्रित करनेवाली शक्तियों के सक्रिय रहने के कारण, अनिवार्यतः निरर्थक होगा। अतएव ऐसी नीति, जिसमें लोगों को एक दूसरे से सौदा करने की स्वतन्त्रता रहती है, न केवल वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के अनुकूल है अपितु वह परिस्थितिजन्य आवश्यकता भी है।

राजनीतिक दृष्टि से 'यद्भाव्यम् नीति' की ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनकी सराहना की जा सकती है। इसकी अपेक्षा कि राज्य हर व्यक्ति के मामलों में हस्तक्षेप करे और उसके निरीक्षक हर परिवार के निजी मामलों में दखल दें

यह कहीं अच्छा है कि राज्य तटस्थ रहे। लेकिन 'यद्भाव्यम् नीति' के आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग किये जाने के अनेक भयावह दुष्परिणाम हुए। इन्हीं आर्थिक दुष्परिणामों के कारण, आगे के अध्यायों में वर्णित, समाजवाद के विभिन्न सिद्धान्त इतने जनप्रिय हो सके। इन दुष्परिणामों का कारण यह था कि यह नीति तीन गम्भीर भ्रमों पर आधारित थी—

(अ) हर व्यक्ति समान रूप से दूरदर्शी है और उसमें वह क्या चाहता है यह समझने की समान क्षमता है।

(ब) हर व्यक्ति में इच्छित वस्तु प्राप्त करने की समान रूप से शक्ति है और उसे चयन की समान स्वतन्त्रता प्राप्त है।

(स) हर व्यक्ति की इच्छाओं की सन्तुष्टि और सम्पूर्ण समाज के कल्याण में सारूप्य है।

मैनचेस्टर के प्रबल व्यक्तिवादी सम्प्रदाय ने उपर्युक्त इन भ्रमों को मानना अस्वीकार कर उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद को जीवन रक्षा के साधनों का प्रतिद्वंद्वात्मक संघर्ष मात्र बना दिया। लेकिन इस सूक्ति पर कि "हर व्यक्ति अपना ही ध्यान रक्खे और शेष को शैतान के लिये छोड़ दे," सन्तुष्ट-समाज आधारित नहीं हो सकता और इस सूक्ति के व्यवहार में जो कुपरिणाम हुए उनके फलस्वरूप औद्योगिक और आर्थिक क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जाने लगा। वास्तव में यह नीति सार्वजनिक जीवन के समस्त क्षेत्र में राज्य की बढ़ती हुई क्रियाशीलता का, जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की विशेषता है, केवल एक पक्ष थी।

राज्य के कृत्यों का यह विस्तार अंशतः तो उस राज्य-दर्शन के कारण हुआ जिसकी उन दिनों प्रभुता थी और जिसका हम वर्णन कर चुके हैं। अंशतः यह समष्टिवादी समाजवादियों के प्रचार के कारण हुआ, जो हमारे अगले अध्याय की विषय वस्तु है। किन्तु व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया की भी प्रतिक्रिया हुई। चक्र ने अपना वृत्त पूरा कर लिया और राज्य के प्रति असन्तोष ने उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद से रूप में भिन्न तथापि मूल भावों में

मिलती-जुलती एक नवीन व्यक्तिवादी विचारधारा को जन्म दिया।

**आधुनिक व्यक्तिवाद की वृद्धि के कारक :**

(१) यद्यपि राज्य ने सार्वजनिक जीवन के हर विभाग में अपने कृत्यों का विस्तार कर लिया है लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी सच है कि राज्य लोगों के वैयक्तिक और निजी जीवन से लुप्त-सा हो गया है। जिन आर्थिक एवं नैतिक स्वैच्छिक संवासों की चर्चा हम पहले कर आये हैं, उन संवासों के कारण मनुष्य राज्य को भी ऐसा ही संवास मानने लगे हैं जिसकी सदस्यता व्यक्ति चाहे तो स्वीकार कर सकता है। लेकिन राज्य को सब से महत्त्वपूर्ण संवास भी नहीं माना जाता। व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति पर राज्य के ही दावे को प्राथमिक स्थान नहीं दिया जा सकता, और इसमें तो सन्देह ही नहीं कि राज्य के साथ सर्वदा व्यक्ति की प्रगाढ़ सहानुभूति नहीं होती। निस्सन्देह कुटुम्ब के पश्चात् राज्य ही एकमात्र ऐसा संवास है जिसकी सदस्यता व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं अपितु आवश्यकतावश स्वीकार करता है। वह फुटबॉल क्लब या श्रमिक संघ की सदस्यता अपनी इच्छानुसार स्वीकार करता है लेकिन राज्य में तो वह उत्पन्न होता है।

(२) युद्धकाल में संघर्षरत देशों में राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र का जो विस्तार हुआ, उस विस्तार के कारण राज्य के विरुद्ध एक भावना उत्पन्न हो गई है। चूँकि इस काल में राज्य की व्यक्ति पर मांगे बढ़ गई थीं, इसलिये व्यक्ति-मात्र की यह प्रवृति हो गई कि वह उन आधारों का ही विरोध करे जिन पर उसे वे आदेश दिये गये थे। व्यक्ति को इसका विरोध करने में और भी सरलता हुई, क्योंकि कुछ अंचलों में युद्ध को, आधुनिक राज्य के पशु बल का तथा वैदेशिक-सम्पर्क के क्षेत्र में इसके अनुत्तरदायित्व का परिणाम माना जाने लगा, जिसको जैसा कि हम गत पृष्ठों में देख आये हैं, हेगल के राज्य सिद्धान्त में उचित बतलाया गया था। इसी समय आन्तरिक क्षेत्र में राज्य द्वारा नई शक्तियों के ग्रहण किये जाने, और फलतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हुई कमी तथा अधिकारियों की संख्या और शक्ति में वद्धि द्वारा लोगों ने

उस प्रकार के कटु-स्वाद की पूर्व-कल्पना कर ली थी जो किसी भी एक अत्यन्त संघठित राज्य में एक सुदक्ष नौकरशाही के अस्तित्व के कारण स्वाभाविक है।

(३) युद्ध और युद्धकालीन मनोवृत्ति ने बहुमत शासन-जन्य आशंकाओं को और भी जल्दी सामने ला खड़ा किया। व्यक्ति यह अनुभव करने लगा कि सामूहिक मानस ( mob mind ) से उसकी रक्षा किये जाने की आवश्यकता है, जो एकरूपता-जनित असहिष्णुता के कारण, विरोधी या उदासीन अल्पसंख्यकों की समस्त स्वतः प्रवर्तित गतिविधि और नवीनता का दलन कर डालता है। जनसंख्या-वृद्धि कारण जनित सामाजिक शक्तियों का एकीकरण तथा समाचार पत्रों के द्वारा निर्मित और उसमें प्रतिबिम्बित लोकमत के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण ऐसा भास हुआ कि सामूहिक शासन ऐसा आततायी तन्त्र होगा जिसमें व्यक्ति के उस अबाध विकास की कोई सम्भावना ही न रह जायगी जिसे मिल ने उचित ही इतना महत्त्वपूर्ण समझा था। अतएव एक ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त आवश्यक हो गया जो सर्वप्रथम तो यह देख सके कि राज्य के नाम में वैध संप्रभुता को बहुमत को हस्तान्तरित करने से सार्वजनिक सुख की अवश्य ही प्राप्ति होगी, यह निश्चित नहीं है। और दूसरे राज्य की शक्तियों और कृत्यों का अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र में विकेन्द्रण कर व्यक्ति को समूह से कुछ सीमा तक सुरक्षा प्रदान कर सके।

**आधुनिक व्यक्तिवाद :** 'आधुनिक व्यक्तिवाद' शीर्षक के अन्तर्गत हमने जिन अनेक विचार रेखाओं को एकत्रित किया है, उनमें अन्य बातों में जो विभिन्नताएं हों, वे सब उपर्युक्त सिद्धान्त को समान रूप से आधार प्रदान करने का प्रयत्न करती हैं।

(१) सर नार्मन एंजल के "दि ग्रेट इल्यूजन" (*The Great Illusion* ) में उल्लिखित विचारों को प्रथम महायुद्ध के पूर्व काफी ख्याति प्राप्त हुई थी। अन्ततोगत्वा वे विचार कई स्थलों पर मिथ्या प्रमाणित हुए, लेकिन बहुधा उनके विचारों को मिथ्या सिद्ध किये जाने के बजाय गलत ढंग से

रखा गया। श्री एंजल की आधारभूत मान्यता यह है कि लोग परस्पर आर्थिक हितों पर आधारित एक सामान्य भावना से बंधे हुए हैं। यह भावना राष्ट्रीय तथा भौगोलिक सीमाओं के विरुद्ध ही नहीं जाती अपितु बहुधा उनका अतिक्रमण करती है। इस सामान्य भावना का सार यह है कि सामान्यतः लोग वही काम करते हैं जो उन्हें सर्वाधिक लाभदायी प्रतीत होता है। वर्तमान काल में प्रतिद्वन्द्वी राज्य जान-बूझकर समस्याओं का चित्रण गलत ढंग से करते हैं और राष्ट्रीय भावनाओं को बढ़ाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लोग ठीक ढंग से नहीं देख पाते कि क्या वस्तुतः उनके लिये लाभदायक है। लेकिन एंजल ने एक स्पष्ट तथ्य की ओर संकेत किया है कि "लोगों के लिये यह अधिक लाभप्रद है कि वे अपने आपको ऐसे सार्वभौमिक-आर्थिक-समाज का सदस्य समझें जिसकी मुख्य विशेषता शान्ति है न कि ऐसे सिमित राजनीतिक समाजों का सदस्य जिनकी विशेषता युद्ध है।"

लोग अनिश्चित काल तक इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते। जब वे इस तथ्य को समझ लेंगे तो वे समाज का प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रीय समूहों के रूप में वर्तमान विभाजन के स्थान पर क्या लाभदायी है इस आधार पर स्थापित आर्थिक स्तर-विन्यास को स्वीकार कर लेंगे। इस विकास पर खेद नहीं करना चाहिये। लोग व्यक्ति के रूप में अत्यन्त बुद्धिमानी से काम करते हैं, परन्तु नागरिकों के रूप में मूर्खों की भांति व्यवहार करते हैं, फलतः संसार को उसके कुपरिणाम भोगने पड़ते हैं। श्री एंजल ने अत्यन्त खेदपूर्वक यह कहा है कि "मनुष्य राजनीतिक क्षेत्र में, जहां देशभक्ति का प्रश्न आ जाता है जिस अबुद्धिमत्तापूर्ण और अनुत्तरदायी ढंग से काम करता है, निजी जीवन में वैसा करते हुए उसे कभी नहीं देखा जाता।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि श्री एंजल राज्य को केवल प्रशासकीय यन्त्र का एक अंग मात्र मानते हैं। जैसे ही लोगों के हितों की पूर्ति का कोई अपेक्षाकृत अधिक अच्छा साधन आ जायगा वैसे ही राज्य को स्थानच्युत करके रद्दी के ढेर में फेंक दिया जायगा। अतएव हमलोग एक ऐसे काल के आगमन की आशा कर सकते हैं

जब राष्ट्रीय राज्य आर्थिक वर्ग पर आधारित अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था में विलयित हो जायगा।

यह सत्य है कि इस विकास के फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के बीच देशभक्तिपूर्ण युद्ध के स्थान पर विभिन्न आर्थिक स्तरों के मध्य वर्ग-युद्ध हो सकता है। लेकिन इसमें कम से कम ऐसा समाजिक संगठन तो बन जायगा जो व्यक्ति की यथार्थ आवश्यकताओं का कुप्रतिनिधित्व करने या उनका गला घोंटने के बाजय उनकी पूर्त्ति तथा अभिव्यक्ति करेगा। और यदि राष्ट्रीय युद्धों के बजाय वर्ग-युद्धों में लड़ने का आदर्श लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में असफल रहता है, तो शायद श्रेणी-समाजवादियों के सिद्धान्त इससे एक अधिक अच्छे मार्ग की ओर संकेत करते हैं। ये सिद्धान्त श्री एंजल द्वारा राज्य की आलोचना के सभी गम्भीर तत्त्वों को आत्मसात् कर लेते हैं। परन्तु उनके विपरीत वे सामाजिक संगटन का ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसमें यद्यपि राज्य के कृत्यों को सीमित कर दिया जायगा तथापि इसमें आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष के स्थान पर सहयोग व्याप्त होगा।

(२) इसी प्रकार श्री ग्रैहम वॉलेस (Graham Wallas) ने भी अति विकसित राज्य के प्रति अविश्वास के आधार पर अपने सिद्धान्तों की रचना की है। लेकिन उनके निष्कर्ष श्री एंजल के निष्कर्षों से भिन्न हैं। अपनी पुस्तक "महान् समाज" (*Great Society*) में श्री वॉलेस ने मुख्यत: प्रतिनिधि शासन की समस्याओं पर ही विचार किया है। समाजवादियों के मतानुसार उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व को निजी उद्योगपतियों के हाथ से लेकर समाज के हाथ में देने से उस समय तक कोई लाभ नहीं है जब तक जो निकाय उन साधनों का प्रशासन भार ग्रहण करे, वह उस समाज का जो साधनों का वास्तविक स्वामी है, सच्चा प्रतिनिधि न हो। श्री वॉलेस के लिये यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि क्या आधुनिक केन्द्रीय राज्य जिसकी अभिव्यक्ति का साधन संसद है, वास्तव में सर्वाधिक शक्तिशाली "सामूहिक मन" की उत्पत्ति करता है?

किसी भी केन्द्रीय राज्य के निर्वाचन-यन्त्र में जिसका संचालन एक ऐसे संचालक निकाय द्वारा किया जाता है जो भौगोलिक आधार पर चुना गया हो, गम्भीर दोष होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इनके कारण इसके लिये जनसंकल्प में बुरे तत्त्वों के विरुद्ध अच्छे तत्त्वों की अभिव्यक्ति करना सम्भव नहीं रह जाता। निर्वाचकों को लोकप्रिय समाचार पत्र मन्त्र-मुग्ध कर सकते हैं, विज्ञापनों द्वारा अचेत कर सकते हैं और तथाकथित व्यापारिक उम्मीदवारों के पक्षों का समर्थन कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं कि अन्य कोई बात निर्वाचक सुन ही न पायें। ब्रिटेन के सन् १९१८ के चुनावों की भांति, निर्वाचकों को केन्द्रीय सामूहिक निर्देशन द्वारा, जनमत को बनाने और नियन्त्रण करने वाले समस्त साधनों की सहायता से, प्रभावित किया जा सकता है और इस प्रकार घृणा और आवेश की ऐसी नीति को केवल समर्थन ही नहीं अपितु प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है, जिसके विषय में हर व्यक्ति अपने निजी जीवन में लज्जा का अनुभव करेगा। शक्तिशाली पूँजीवादी समूह निर्वाचकों को अपने धन के द्वारा ऐसी नीतियों के पक्ष में मतदान करने के लिये प्रभावित कर सकते हैं जो इन समूहों के स्वार्थ में हैं यद्यपि समाज के हित में नहीं हैं।

इन सब दोषों का विशेषतः ऐसी व्यवस्था में वर्तमान होना स्वाभाविक ही है जहां जनता अपरिचित प्रतिनिधियों का निर्वाचन एक ऐसे व्यवस्थापक मण्डल के लिये करती है जिसके ऊपर निर्वाचन के पश्चात् उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। श्री वॉलैस इसलिये यह प्रस्ताव रखते हैं कि निर्वाचकों को व्यावसायिक आधार पर विभक्त कर दिया जाय और हर समूह एक ऐसे द्वितीय सदन के लिये सदस्य चुने जिसमें केवल विभिन्न व्यापारों और व्यवसायों के प्रतिनिधि रहेंगे। निचला सदन विशुद्ध भौगोलिक आधार पर संगठित किया जायगा। दूसरा प्रस्ताव यह है कि प्रतिनिधियों के निकाय भौगोलिक आधार पर चुने जायें, विशिष्ट कार्यों के लिये और इनमें थोड़ी संख्या में व्यावसायिक संगठनों के भी प्रतिनिधि रहें। इन सभी प्रस्तावों में श्री वॉलैस का उद्देश्य इस लक्ष्य की प्राप्ति करना है कि व्यक्ति अमर्यादित

बहुमत शासन के दोषों से सुरक्षित रहे। राज्य के अत्याचार से उतना भय नहीं है जितनी आशंका समूह के आततायित्व से है।

(३) श्री बेलॉक (Belloc) ने अपनी पुस्तक "दास राज्य" (*The Servile State*) में मध्यकालीन श्रेणी (गिल्ड) की व्यवस्था पुनर्स्थापित करने के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनको श्रेणी-समाजवादियों ने विकसित किया है। श्रेणी-समाजवादी समाज को दो प्रकार के समूहों का संघ मानते हैं जो क्रमशः उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्त्तमान श्रमिकसंघों और सहकारी-समितियों को वह बीज माना गया है, जिनके आधार पर भविष्य में समाज का सामूहिक-संगठन विकसित होगा। श्रेणी-समाजवादियों के प्रस्ताव सम्भवतः आधुनिक व्यक्तिवादियों के दृष्टिकोण के सर्वाधिक विशिष्ट उदाहरण हैं। इन प्रस्तावों पर हम एक अलग अध्याय में विचार करेंगे।

जिस राजनीतिक प्रवृत्ति को हमने आधुनिक व्यक्तिवाद की संज्ञा दी है उसकी प्रमुख विशेषताएं ऊपर दी गई रूप-रेखा से स्पष्ट हो जायंगी। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं:

(१) आधुनिक व्यक्तिवाद की अबुद्धिवादी प्रवृत्ति सामान्यतः राज्य तथा विशिष्टतः हेगलवादी और समष्टिवादी राज्य-सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इसका बुद्धिवादिता-विरोधी स्वरूप दृढ़-विवेकाधारित प्रस्तावों के प्रति विरोध प्रकट करने से सिद्ध होता है। आधुनिक व्यक्तिवादी का यह विश्वास है कि भावी विकास स्वयमेव होगा और उसकी दिशा को राजनीतिज्ञों या राजतत्त्वशास्त्रियों की मस्तिष्क-कार्यवाही प्रभावित नहीं कर सकती। उसका यह भी विश्वास है कि अन्तश्चेतना या उपचेतना हर नयी स्थिति का, जब भी वह उत्पन्न होती है, सफलतापूर्वक सामना करने का मार्ग खोज निकालती है। शिल्पिसंघवाद इस दृष्टिकोण का विशिष्ट उदाहरण है। सामान्यतः या तो राज्य की नैतिक आधारों पर निन्दा की गई है या आर्थिक आधारों पर उसे अन्य प्रकार के संवासों के अधीन कर दिया गया है।

(२) आधुनिक व्यक्तिवाद समूहों के यथार्थ व्यक्तित्व की पुष्टि करता है। यह कहा गया है कि हेगेलवादियों ने राज्य के व्यक्तित्व के अस्तित्त्व को राज्य के सदस्यों के व्यक्तित्व से पृथक सिद्ध करने के लिये तथा सामान्य-संकल्प को सब के संकल्पों के योग तथा यान्त्रिक-फल से भिन्न सिद्ध करने के लिये, जो तर्क दिये हैं वे यदि राज्य पर लागू होते हैं तो उतनी ही उपयुक्तता से समूह पर भी लागू हो सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक संघ, कॉलिज, चर्च, गिल्ड और फुटबॉल क्लब भी, राज्य के समान ही अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। यह व्यक्तित्व उक्त संस्थाओं और संवासों के सदस्यों के सहमति-सूचक-संकल्प द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये इन संस्थाओं और संवासों को भी अपने सदस्यों की भक्ति तथा सेवा का अधिकार है। जब यह प्रश्न उठे कि, जैसा कभी-कभी होता भी है, सदस्य अपनी संस्था या संवास की आज्ञा माने या राज्य की, तो ऐसा कोई पूर्व निश्चित कारण नहीं है जिसके आधार पर यह समझा जा सके कि राज्य का दावा ही सर्वोपरि है। किसी भी अवस्था में यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति को ऐसी असमंजसपूर्ण दशा में, इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह अपने विवेकानुसार इस बात का निश्चय कर सके।

(३) राज्य को समूहों का संघ, श्रेणियों का संघ, या "समाजों का समाज" मानने की प्रवृत्ति है। उसे एक ऐसा प्रशासकीय यन्त्र समझा जाता है जो विभिन्न विरोधी समूहों के दावों के मध्य समन्वय स्थापित करने और उनकी गति-विधियों का संयुक्तिकरण करने के लिये लाभदायी है। किन्तु राज्य अपने आप में मानवीय अन्तरात्मा की ऐसी किसी अपूर्व या विशिष्ट आवश्यकता की पूर्त्ति की सामर्थ्य नहीं रखता जिसकी पूर्त्ति अन्य किसी भी प्रकार के संगठन से नहीं हो सकती है।

राज्य को यदि इस दृष्टिकोण से देखा जायगा तो फिर वह अपरिहार्य नहीं रह जाता। जैसे ही कोई ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जायगी जिसके द्वारा विभिन्न समूहों के परस्पर विरोधी हितों का विनिमयन हो सके, राज्य को,

जैसा कि ऊपर सुझाव दिया गया है, समाज के समूहवादी-संगठन द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

अतएव, नये व्यक्तिवाद तथा पुराने व्यक्तिवाद में यह भेद है कि इसमें राजनीतिक उद्देश्यों के लिये व्यक्ति के स्थान में समूह को इकाई समझा जाता है। पुराना व्यक्तिवाद (१) निजी आर्थिक-हितों और (२) बहुमत-शासन में अभिव्यक्त होनेवाले लोकमत की शक्ति के शोषण तथा दमन से, व्यक्ति की रक्षा करने में सर्वथा असफल सिद्ध हुआ। फलतः नये व्यक्तिवाद को सामयिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये उक्त दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। समूह या संस्थाओं का निर्णय अथवा संगठन, सर्वप्रथम तो संरक्षण प्राप्त करने के लिये होता है, और दूसरे इसलिये कि उनके द्वारा उन हितों या विचारों को आगे बढ़ाया जा सके जिनको सब सदस्य समान रूप से मानते हैं। इन समूहों या संस्थाओं के अपेक्षाकृत छोटे होने से इनमें सामान्य-संकल्प की अभिव्यक्ति तथा इनके सदस्यों के व्यक्तित्व के विकास का अवसर रहता है। आधुनिक राज्य के बृहत् आकार के कारण उसमें यह सम्भव नहीं है।

इसलिये इन समूहों के पक्ष में यह कहा जाता है कि राज्य के स्थान पर ये समूह ही अब व्यक्ति के यथार्थ व्यक्तित्व को विकसित करने के माध्यम हैं। साथ ही साथ ये समूह उस वैयक्तिक स्वतन्त्रता को प्रभावी करने के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं जो जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा प्रतिपादित पुराने व्यक्तिवाद की सब से मूल्यवान देन है।

समाज का समूह-संगठन ( group organization ) विषयक प्रस्तावों का 'श्रेणी समाजवाद' अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

# ३

# समाजवाद : विशिष्ठतः समष्टिवाद से सम्बन्धित

**परिचय :**

सीमित स्थान में समाजवाद का विस्तृत विवरण देना कुछ कठिन कार्य है। इस कठिनाई का प्रथम कारण यह है कि 'समाजवाद' शब्द का एक सिद्धान्तावली और एक राजनीतिक आन्दोलन, इन दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। अतएव यद्यपि हम मुख्यतः समाजवादी सिद्धान्त के विषय में विचार करेंगे, तथापि, यह सम्भव न होगा कि हम इस विवरण में उन संगठनों की प्रकृति के सम्बन्ध में बिलकुल चर्चा ही न करें जो समाजवादी सिद्धान्तों को मानते हैं। दूसरा कारण यह है कि जिस सिद्धान्तावली को हम सामान्यतः समाजवाद कहते हैं वह पूर्णतः या मुख्यतः भी केवल-मात्र राजनीतिक नहीं है। समाजवाद में पर्याप्त अंशों में आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त एक दूसरे से इतनी घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध हैं कि इसके केवल राजनीतिक पक्ष का विवरण देना न केवल अव्यवहारिक है अपितु अवांछनीय भी है।

तीसरी कठिनाई इस कारण उत्पन्न होती है कि समाजवादी बहुत से परस्पर विरोधी दलों में विभक्त हैं। ये दल अपने लक्ष्यों और पद्धतियों में सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से कुछ पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं और जिन विशिष्ट सिद्धान्तों का वे समर्थन करते हैं, वे भी पर्याप्त अंशों में सुपरिभाषित हैं। इन विचार-धाराओं के पोषकों के अलग-अलग और स्पष्ट नाम हैं। वे समाजवादी नहीं, अपितु शिल्पी-संघवादी (सिण्डीकैलिस्ट), श्रेणी समाजवादी (गिल्ड सोशलिस्ट), या साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) कहलाते हैं। समाजवाद के इन विकसित रूपों पर अलग-अलग अध्यायों में विचार किया जायगा। समाजवाद के विवरण, दृष्टिकोण की भिन्नताओं के अनुसार काफी अलग-अलग होंगे। उदाहरण के लिये, हम समाजवाद पर मुख्यतः व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में विचार कर सकते हैं या हम समाजवाद को कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों की

व्याख्या के रूप में देख सकते हैं। समाजवाद के अध्ययन की प्रत्येक पद्धति उसके विभिन्न पक्षों पर अलग-अलग बल देगी और उसके परिणामस्वरूप हमारे सामने समाजवाद के भिन्न-भिन्न चित्र आयेंगे। सम्भवतः अन्य किसी भी सिद्धान्त की अपेक्षा अपने समर्थकों के स्वभावों की विभिन्नता के अनुसार तथा उन दोषों की प्रकृति की विभिन्नता के कारण जिन पर उन्होंने ध्यान केन्द्रित किया है, समाजवाद अपने प्रत्येक प्रवक्ता के हाथों में एक भिन्न सिद्धान्त प्रतीत होता है। समाजवाद के समर्थकों की संख्या इतनी अधिक है और उनमें से अनेक प्रथम श्रेणी के राजनीतिक पैम्फ्लेट (pamphlet) लेखक भी हैं। इस कारण इस विषय पर इतनी विपुल मात्रा में सामग्री उपलब्ध है कि विशुद्ध समाजवाद क्या है, यह बतलाना बड़ा कठिन है। संक्षेप में समाजवाद ऐसी टोपी बन गया है जिसकी आकृति बहुत अधिक पहने जाने के कारण बिगड़ चुकी है।

लेकिन इसके साथ यह बात भी है कि कुछ ऐसे लक्ष्य हैं जिनकी प्राप्ति अधिकांश समाजवादी वांछनीय मानते हैं। यह दूसरी बात है कि उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों के विषय में उनके मध्य गम्भीर मतभेद हो। समाजवादियों में एक ऐसा भी पन्थ है जिसे हम समष्टिवादी या राज्य समाजवादी कह सकते हैं; यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रचार आजकल घट गया है, तथापि यह समाजवादी विचारों का केन्द्रीय सिद्धान्त होने के साथ ही अन्य समाजवादी विचारधाराओं का प्रस्थान बिन्दु भी है।

प्रस्तुत अध्याय में हम विभिन्न समाजवादियों के मध्य इस विचार साम्यता का, विशेषकर जैसी यह समष्टिवाद या राज्य समाजवाद में दिखलाई देती है, अध्ययन करेंगे।

हमारा विचार सब से पहले समाजवाद के पूर्व वृत्तान्त पर विचार करने का है। इसके उपरान्त उस सामाजिक और राजनीतिक दर्शन का वर्णन करेंगे जो समाजवाद का आधार है और सब से अन्त में उन ठोस प्रस्तावों पर विचार करेंगे जिनके द्वारा यह अभिव्यक्त होता है। जहां तक सम्भव होगा

हम उन्हीं प्रस्तावों का चयन करेंगे जिन्हें न्यूनाधिक संशोधनों के बाद सभी विचारधाराओं के समाजवादी स्वीकार करते हैं।

**१. समष्टिवादी समाजवाद के पूर्वगामी :**

(क) कार्ल मार्क्स का कार्य: कार्ल मार्क्स यथार्थतः समाजवाद का जनक है [१]। निःसन्देह कार्ल मार्क्स के पूर्व भी ऐसे बहुत से सिद्धान्त-शास्त्री हुए थे जिन्होंने समाज की तत्कालीन दशा से असन्तुष्ट होकर ऐसी आदर्श व्यवस्थाओं की कल्पना की थी जिसमें सम्पत्ति पर सब का समान अधिकार रहेगा और अन्याय लुप्त हो जायगा। इन अर्थों में प्लेटो की रिपब्लिक को समाजवादी राज्य की संज्ञा दी जा सकती है। राबर्ट ओवेन जैसे कुछ व्यतिक्यों ने अपने आदर्शों को मूर्तरूप देने की चेष्टा भी की थी। उन्होंने ऐसे आदर्श समुदायों की स्थापना की जिनके निवासियों को एक विशिष्ट प्रकार का जीवन व्यतीत करना पड़ता था, जिसको आदर्श समुदाय का संस्थापक मनुष्य-मात्र के लिये सर्वोत्तम जीवन मानता था। तथापि, ये प्रयोग बिना किसी अपवाद के असफल रहे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ओवेन के अतिरिक्त तथाकथित समाजवादी लेखकों में मार्क्स के पहले ऐसा कोई भी था जिसने आदर्श समाज की स्थापना के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया हो, या ऐसे समाज की स्थापना हो जाने पर, वह निरन्तर किस प्रकार बना रहेगा, इस प्रश्न पर ध्यान दिया हो। इनमें से अधिकांश समुत्सुक सामाजिक सिद्धान्त-शास्त्री सुलभ अलौकिक विश्वास सहित, ओवेन और फूरिये की भांति यह समझते थे कि उन्हें अखिल मानव जाति का ध्यान केवल अपनी योजनाओं की सुस्पष्ट पूर्णताओं की ओर आकृष्ट करना है,

---

(१) ब्रिटिश समाजवाद के कुछ पक्षों का जहां तक सम्बन्ध है इस वक्तव्य को कुछ सीमित करना होगा। व्यवहारतः मार्क्स सभी योरोपीय समाजवादियों और कुछ अंग्रेज समाजवादियों का प्रस्थान बिन्दु है। अन्यों के लिये और विशेषकर फेबियनों के लिये हॉजस्किन, ओवेन और रस्किन पूर्वगामियों के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हैं।

जिनको एक बार समझते ही समग्र मानव जाति स्वयं ही उन्हें व्यवहारिक रूप देने की प्रबल इच्छा के पाश में बंध जायेगी। यह कहना तो आवश्यक ही है कि ऐसे स्वप्नदर्शी सिद्धान्त-शास्त्रियों का जीवन निराशाओं से परिपूर्ण रहा।

ऐसी अवस्था में मार्क्स ही पहला समाजवादी लेखक है जिसके कार्य को वैज्ञानिक माना जा सकता है। उसने न केवल उस समाज का चित्र अंकित किया जिसे वह वांछनीय समझता था, अपितु उसने विस्तारपूर्वक उन दशाओं का वर्णन किया जिनसे होकर उस आदर्श समाज को विकसित होना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स के ग्रन्थों ने श्रमजीवीवर्ग को बहुत अधिक प्रभावित किया, किन्तु यह होते हुए भी वे कठिनाइयों से मुक्त नहीं हैं और उनकी सही-सही व्याख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। मार्क्स के ग्रन्थों की यह भिन्न-भिन्न व्याख्या भी कुछ अंशों में विभिन्न समाजवादी विचारधाराओं का प्रस्थान-ब्रिन्दु बन गई है।

प्रस्तुत अध्याय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस स्थल पर मार्क्स के दो प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कर देना ही पर्याप्त होगा। इन दो सिद्धान्तों के विकासों पर हम बाद के अध्यायों में विचार करेंगे। ये सिद्धान्त हैं—अर्घ का सिद्धान्त और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।

**(१) अतिरिक्त-अर्घ का सिद्धान्त :**

उन्नीसवीं शताब्दी के रूढ़िवादी अर्थ-शास्त्र में सन्निहित इस सिद्धान्त को मार्क्स पूर्णतः स्वीकार कर लेता है कि श्रम अर्घ का स्रोत है। वह इसे विकसित करता है और इसके आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकालता है जो अन्य अर्थ-शास्त्रियों द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तों के पूर्णतः प्रतिकूल है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है।

पूँजीवादी समाजों का धन, अन्ततः वस्तुओं का प्रचुर संग्रह है। इन वस्तुओं का अर्घ होता है। जिस मात्रा में ये वस्तुएँ मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि कर सकती हैं, उसी अनुपात में उनका अर्घ होता है। दूसरे शब्दों में

वस्तुओं का अर्घ उनकी उपयोगिता के अनुपात में होता है। हम किसी वस्तु की उपयोगिता इस आधार पर स्थिर करते हैं कि उसके बदले में हमें क्या प्राप्त हो सकता है। मार्क्स इसीलिये एक वस्तु का दूसरी वस्तु की तुलना में मूल्य प्रकट करने के लिये 'विनिमय अर्घ' शब्दों का प्रयोग करता है। इस 'विनिमय-अर्घ' को सामान्यतः 'कीमत' कहा जाता है। 'कीमत' बाज़ार की स्थिति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। लेकिन यह घटा-बढ़ी आकस्मिक है। इससे वह वास्तविक प्रभाव लुप्त अथवा अस्पष्ट नहीं होता जो वस्तुओं का अर्घ और अन्ततः उनका 'विनिमय-अर्घ' भी स्थिर करता है। यह प्रभाव उस श्रमकाल का औसत परिमाण है जो उस वस्तु के उत्पादन में व्यय किया जाता है। इस प्रकार विनिमय-अर्घ की बाह्य घटा-बढ़ी के होते हुए भी वह श्रमकाल जो वस्तुओं के उत्पादन में खर्च करना सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, एक 'विजयी प्राकृतिक विधि की भांति' अपनी सत्ता स्थापित करता है और विनिमय-अर्घ का वास्तविक मापदण्ड या माप है।

लेकिन मानव श्रम से ही अर्घ की सृष्टि नहीं हो जाती। मानवीय श्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य उपादानों की आवश्यकता भी पड़ती है। ये उपादान यन्त्र, कारखाने, वाष्प-शक्ति, विद्युत-शक्ति आदि हैं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जो आविष्कार हुए उनसे अर्घ की सृष्टि करनेवाले इन उपादानों की संख्या और कार्यपटुता दोनों में ही बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। इन उपादानों का स्वामित्व अपेक्षाकृत स्वल्प व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग के हाथ में चला गया है जिसे पूंजीवादी कहा जाता है। पूंजीवादी निराश्रित और निर्धन श्रमिक की श्रम शक्ति को खरीद लेता है, और यन्त्रों और कच्चे माल पर, जिनका वह स्वामी है, उस श्रम शक्ति का प्रयोग करता है तथा उसके परिणामस्वरूप ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिनका 'विनिमय-अर्घ' होता है। अर्थात् वह ऐसी वस्तु तैयार करता है जिसकी कीमत बेंचने पर उस व्यय से अधिक होती है जो उसने कारखाने को चलाये रखने और श्रमिकों को उनका पारिश्रमिक देने में

किया होता है। उत्पादित वस्तु के विनिमय-अर्घ और श्रमिक को दिये जानेवाले श्रम के मूल्य का यह अन्तर ही 'अतिरिक्त अर्घ' कहा जाता है। अतिरिक्त अर्घ का जन्म श्रमिक के परिश्रम के फलस्वरूप होता है लेकिन इसे वह पूंजीपति जो उसे काम पर लगाता है स्वयं हड़प लेता है। वस्तुतः अतिरिक्त अर्घ वह श्रम है जिसका पूंजीपति कोई मूल्य नहीं देता।

पूंजीपति द्वारा अतिरिक्त अर्घ का इस तरह हड़प लिया जाना आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का साररभूत अन्याय है—ऐसा अन्याय जिसको सभी प्रकार के समाजवादी मिटा देना चाहते हैं। पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था, वस्तुतः दास समाज से केवल रूप में ही भिन्न है। दास से बलात् काम करवाया जाता था और इस प्रकार वह बाध्य होकर अतिरिक्त अर्घ की सृष्टि करता था; आधुनिक श्रमिक स्वतन्त्र संविदा में अपनी इच्छा से प्रवेश कर अतिरिक्त अर्घ की सृष्टि करता है। परन्तु, क्योंकि श्रमिक उत्पत्ति के साधनों से विहीन है, वास्तव में उसके पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है कि वह अपने पास की वस्तु—श्रम को पूंजीपति को बेंचे जो उसे केवल इतना ही वेतन देगा जिससे कि किसी प्रकार उसका शरीर धारण होता रहे। शेष आय को पूंजीपति अपनी जेब के हवाले करता है।

**(२) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या :**

इसके पश्चात् मार्क्स इसका अध्ययन करता है कि ऐसे समाज की स्थापना किस प्रकार हुई, जिसमें एक छोटा सा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग श्रमिकों द्वारा उत्पन्न किये गये अतिरिक्त-अर्घ को विधि के संरक्षण में निरन्तर हड़पता जा रहा है। इसका उत्तर मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा देता है। मार्क्स ने ही सर्वप्रथम इस बात पर विशेष बल दिया कि ऐतिहासिक घटनाओं के निर्धारण में आर्थिक तत्त्वों का निर्णायक हाथ होता है। जहां अन्य विद्वानों ने इन घटनाओं को व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, दरबारी षडयन्त्रों या राजनीतिक आक्रमणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था, वहां मार्क्स ने इस तथ्य पर बल दिया कि सामने दिखलाई पड़नेवाली राजनीतिक प्रवृत्तियों के पीछे वे

आर्थिक तत्त्व छिपे मिलेंगे जो अन्ततः दीर्घकाल में उक्त प्रवृत्तियों को स्थिर करते हैं। इतिहास की इस धारणा के अनुसार यूनानियों के ट्राय पर आक्रमण का कारण मेनेलॉस की, पेरिस को हेलेन के भगाने के लिये, दण्ड देने की इच्छा न थी वरन् यूनानियों की पूर्व से एक नया व्यापारिक मार्ग स्थापित करने की इच्छा थी। इस प्रकार इतिहास दीर्घकाल में आर्थिक तत्त्वों के घात-प्रतिघात द्वारा स्थिर होता है; और मानव समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था वस्तु-जगत में इसके भौतिक विकास की दशा को अनुचित्रित करती है।

अतएव आर्थिक उत्पत्ति की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप ही समाज का राजनीतिक स्वरूप बन जाता है और उसीके अनुरूप वर्ग बन जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक क्रान्ति द्वारा जो अपरिमित आर्थिक प्रगति हुई, उसने एक तो ऐसे छोटे विशेषाधिकारयुक्त वर्ग को जन्म दिया जिसका उत्पत्ति के समस्त साधनों पर स्वामित्व था और दूसरे एक बहुत बड़े सम्पत्तिहीन सर्वहारा वर्ग को जन्म दिया। इसमें सन्देह नहीं कि औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व भी मालिक और मज़दूर थे; छोटे-छोटे पूँजीपति भी थे, परन्तु आधुनिक समाज की विशेषता यह है कि उस पर पूँजीपतियों का एक वर्ग के रूप में प्रभुत्व है। राज्य के संगठन में यह प्रभुत्व स्पष्टतः अभिव्यक्त होता है और समस्त आर्थिक क्षेत्र में पूँजीपति वर्ग को सर्वहारा वर्ग का सामना करना पड़ता है। यह विरोधपूर्ण आमना-सामना जिसमें हितों का मौलिक विरोध सन्निहित है, एक प्रकार के अनवरत संघर्ष को जन्म देता है जिसको 'वर्ग-युद्ध' कहा गया है।

किन्तु समाज स्थिर नहीं रहता, वह बदलता रहता है और विकसित होता रहता है, और पूँजीवादी व्यवस्था इस विकास-चक्र का अंग होने के कारण कालान्तर में नष्ट हो जायगी तथा उसका स्थान कोई अन्य व्यवस्था ग्रहण कर लेगी। पूँजीवाद का भावी विकास पूँजी के केन्द्रीकरण का रूप लेगा। एक ओर तो छोटे-छोटे पूँजीपति समाप्त होते जायंगे और उनकी पूँजी कुछ इने-गिने बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में चली जायगी और दूसरी ओर सर्वहारा

वर्ग का संगठन अधिकाधिक संगठित तथा व्यापक होता जायगा। इस अवस्था की जब चरम सीमा आ जायगी तो सर्वहारा वर्ग विद्रोह के द्वारा पूँजीपति वर्ग की सत्ता को नष्ट कर देगा तथा उत्पत्ति के साधनों से उन्हें उसी प्रकार अधिकारच्युत कर देगा जिस प्रकार पूँजीपतियों ने अपने आविर्भाव के पूर्व सत्तारूढ़ विशेषाधिकार-प्राप्त वंशानुगत वर्गों को हटा दिया या पचा लिया था।

राजनीतिक सिद्धान्त पूर्ववर्त्ती आर्थिक परिवर्त्तनों को प्रतिबिम्बित करते हैं; इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वहारा वर्ग की विजय सामाजिक रूपरेखा में परिवर्तन का कारण बनेगी तथा वर्ग-विभाजन का उन्मूलन हो जायगा।

श्रमजीवी वर्ग के विचारों पर इस सिद्धान्त का असीमित प्रभाव हुआ। इस सिद्धान्त ने अतिरिक्त-अर्घ के सिद्धान्त से कहीं अधिक मार्क्स के नाम को समाजवाद के जनक के रूप में पूजनीय बनाने में सहायता दी है। इस आकर्षण का रहस्य यह तथ्य है कि उक्त धारणा श्रमजीवी को यह आश्वासन देती है कि अन्तिम विजय उसी की होगी। सामाजिक विकास के अपरिवर्त्तनीय सिद्धान्तों के अनुसार इतिहास के विकास की प्रक्रिया-मात्र, जिससे राजनीतिक परिवर्तन होते हैं तथा आर्थिक परिवर्तनों को अनुचित्रित करते हैं, कालान्तर में पूँजीवादी वर्ग के स्वामित्व को समाप्त कर देगी। ऐसी दशा में संघर्ष, वर्ग-युद्ध, सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का क्या होगा? क्या ये भी अनिवार्य हैं? क्या विकास हिंसापूर्ण और आकस्मिक परिवर्तनों की सहायता से ही होता है? अथवा, क्या हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते कि स्वाभाविक विकास की मन्द प्रक्रिया द्वारा भी वांछनीय सामाजिक परिवर्तन सम्भव है?

इन प्रश्नों के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं और इन्हीं विभिन्न उत्तरों के आधार पर विकासवादी और क्रान्तिकारी समाजवाद की विभिन्न धाराओं का जन्म हुआ है। प्रथम विचारधारा जिसका मुख्यतः ग्रेट ब्रिटेन में प्राबल्य रहा है, मार्क्स के विचारों के जीव-शास्त्रीय पक्ष पर बल देती है, क्योंकि यह विकास का फल है तथा विकासशील है, अतएव स्पष्टतः यह एक सावयवी, अर्थात् एक जीवित वस्तु है और अन्य किसी भी जीवित वस्तु के समान इसका विकास

हो सकता है या नाश हो सकता है, किन्तु विकास तथा नाश ये दोनों ही क्रियायें मन्द होती हैं, इनका मानवीय बुद्धि की सहायता से पता लगाया जा सकता है और मानवीय चेष्टाओं द्वारा इनकी गति को सहायता दी जा सकती है तथा तेज किया जा सकता है, लेकिन इन प्रक्रियाओं को कोई उलट या रोक नहीं सकता और न इनकी गति ही इतनी तीव्र की जा सकती है कि सहसा क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाये।

इसलिये प्रगति का मार्ग यह है कि धीरे-धीरे ऐसे सुधार किये जायं कि जिससे आगामी स्वरूपान्तरों की दिशा में समाज क्रमशः बढ़ता चले। समाज का यह स्वरूपान्तर समाज के ढांचे में हुए किसी आकस्मिक परिवर्तन द्वारा न होकर उक्त सुधारों के कुल योग में निहित होगा। यही विकासवादी समाजवाद है। इसे समष्टिवाद या राज्य समाजवाद भी कहते हैं। प्रस्तुत अध्याय के शेष भाग में इसी विचारधारा के सिद्धान्तों पर विचार किया जायगा।

परन्तु कुछ ऐसे भी समाजवादी हैं जो मार्क्स के इन सिद्धान्तों की सर्वथा भिन्न व्याख्या करते हैं। भविष्य में चाहे जो स्थिति हो, वे इस तथ्य पर विशेष बल देते हैं कि आज का समाज दो विरोधी वर्गों में विभक्त है। एक के पास सब कुछ है और दूसरे के पास कुछ भी नहीं। इन दोनों वर्गों के हितों में परस्पर कुछ भी साम्यता नहीं है। इन दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है जिसे केवल एक ऐसी क्रान्ति पाट सकती है जो समाज की रूपरेखा में आमूल परिवर्तन कर दे। यह सत्य हो सकता है कि समाज स्वाभाविक रीति से क्रमशः बदलेगा और विकसित होगा, किन्तु इस बीच शोषित श्रमजीवियों को घोर दुःखों और कष्टों का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है और उनमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वे प्रतीक्षा कर सकें। इसलिये समाज में शीघ्र परिवर्तन करने के लिये हर सम्भव चरण उठाया जाना चाहिये जिसका उद्देश्य समाज की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो। लेकिन यह परिवर्तन उस समय होगा जब कृत-निश्चय श्रमजीवी वर्ग पूंजीपतियों का निस्स्वाम्यकरण करने के लिये हिंसा का मार्ग अपनायेंगे।

मार्क्स की यह व्याख्या, जो साम्यवाद के मूल में है, और अंशतः शिल्पी-संघवाद ('सिण्डीकैलिज्म') में भी है, अगले अध्याय में प्रस्तुत की जायगी।

**(ख) व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया :** उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ ऐसी शक्तियां भी थीं जिन्होंने मार्क्स के विचारों से उत्पन्न पूंजीवादी समाज के प्रति असन्तोष को बढ़ाने में मदद दी। ये शक्तियां राजनीतिक सिद्धान्त की एक नवीन धारणा द्वारा उत्पन्न हुई थीं—जो राज्य को सजीव सावयव मानती थी, जिसका विकास तथा नाश होता है। विकासशील मार्क्सवादियों ने इसी विचार को अपनाया। सन् १८७० के बाद से व्यक्तिवादियों के पन्थ का जैसा हम देख चुके हैं क्रमशः परित्याग किया जाना आरम्भ हो गया था और सन् १८८९ में 'फेबियन एस्सेज़' के प्रकाशन द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के रूप में 'यद्भाव्यम् नीति' की मृत्यु घोषित की जा चुकी थी।

'यद्भाव्यम् नीति' के सिद्धान्त की किन-किन आधारों पर आलोचना की जा सकती है, उनकी चर्चा हम व्यक्तिवादवाले अध्याय में कर आये हैं और अब यहां उन बातों की पुनरावृत्ति को आवश्यकता नहीं है। मुख्यतः इसके आर्थिक-पक्ष की दुर्बलताओं के कारण व्यक्तिवाद का पतन हुआ। जो व्यक्ति अपने श्रम को अधिक से अधिक कीमत देने वाले को बेंचने के लिये विवश हो, उसे यह बतलाना बेकार है कि वह सदैव वही कार्य करेगा जो उसके हित में हो। और न उस व्यक्ति को जिसके पास अपना पेट भरने लायक वेतन न स्वीकार करने पर भूख मरने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, इस बात को जानने से कोई शान्ति मिल सकती है कि वह संविदा की स्वतन्त्रता के अधिकार का उपभोग करता है अथवा वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये, राज्य-हस्तक्षेप के भय से मुक्त है। समाज के स्वास्थ्य और सुख के लिये पूर्त्ति और मांग का नियन्त्रण रहित निष्पादन कितना हानिकारी सिद्ध हो सकता है, यह काम के लम्बे घण्टों और अल्प वेतन की व्यथाओं, विकासहीन जीवन और प्रतिबन्धित प्रगति से स्पष्ट है और इन्हीं दोषों को कम करने के लिये कारखाना अधिनियमों ( Factory Acts ) और व्यापार

परिषद् अधिनियमों (Trade Board Acts) की रचना की गई थी। यथार्थतः यह अधिकाधिक स्पष्ट हो गया था कि यदि अधिकांश जनता को भृत्ति दासों के स्तर से ऊपर उठाना है तो उसकी मुक्त और नियन्त्रणरहित प्रतिद्वंद्विता की बुराई से रक्षा करनी होगी। इसका एकमात्र उपाय यह है कि पहले जितना हस्तक्षेप और विनियमन होता आया है, उससे अधिक मात्रा में समाज उद्योग तथा व्यवसाय में हस्तक्षेप करे।

राज्य कम से कम इन अर्थों में मानव शरीर से मिलता-जुलता है कि उसका कोई सदस्य अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये स्वच्छन्द और अनियन्त्रित ढंग से काम करता है तो उसका शेष भाग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और इसमें सन्देह नहीं कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को व्यक्तिगत हितों की प्राप्ति के लिये दी गई अनियन्त्रित स्वतन्त्रता समस्त राज्य के कल्याण को क्षति पहुँचा रही थी।

"लोग स्वतन्त्र रीति से कार्य करते हैं फिर भी उनके ये कार्य एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं; इससे जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है उसके निवारण के लिये संयुक्त कार्यवाही आवश्यक है। इसीलिये प्रत्येक समाज में राजनीतिक संगठन जरूरी है।" [१]

'यद्भाव्यम् नीति' जिस प्रकार की आर्थिक क्रिया को प्रोत्साहित करती है उसे अन्धी क्रिया ही कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि यह बहुत से व्यक्तियों की इच्छाओं द्वारा उत्पन्न होती है, तथापि इसके ऐसे परिणाम सामने आते हैं जिन्हें उनमें से कोई नहीं चाहता और वे परिणाम उन व्यक्तियों के अतिरिक्त, अन्य बाहर के लोगों को भी जिन्होंने कोई वैसा कार्य करने की इच्छा नहीं की थी, प्रभावित करते हैं। आर्थिक क्रिया का हम यहां एक विशिष्ट दृष्टान्त देते हैं। यह दृष्टान्त उन लोगों के आचरण का है जो यह जनश्रुति सुन लेते हैं कि जिस बैंक में उनका रुपया जमा है उसका दिवाला निकलनेवाला है। हर व्यक्ति जिसका रुपया जमा होता है अपना रुपया निकालने के लिये दौड़

१—ए० डी० लिण्डसे, "दि थ्योरी ऑव स्टेट" (बेड फोर्ड कालेज लेक्चर

पड़ता है, और प्रत्येक व्यक्ति के इस कार्य का जो वह स्वतन्त्र रूप से करता है, वही परिणाम होता है जिसे कोई नहीं चाहता अर्थात् बैंक का दिवाला ही निकल जाता है।

नियन्त्रण रहित आर्थिक क्रिया के अन्धेपन से उत्पन्न कुपरिणामों से रक्षा करने के लिये राज्य द्वारा कार्यवाही किया जाना आवश्यक है, और व्यक्तिवाद द्वारा होनेवाली प्रतिक्रिया का प्रथम एवं सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि राज्य असीमित मुनाफ़ाखोरी तथा उससे उत्पन्न होनेवाले कुप्रभावों को रोके।

दूसरी प्रतिक्रिया, सम्पत्तिवान वर्ग के उस मुनाफे को पूर्णतः हस्तगत करने के अधिकार पर आपत्ति करने की प्रवृत्ति है, जो श्रमिक और स्वामी दोनों संयुक्त प्रयत्नों द्वारा कमाते हैं। हम विनिमय अर्घ सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त को पूर्णतः अस्वीकार कर दें, फिर भी यह सम्भव है कि हम न केवल पूँजीपति के उस सारे लाभ को हस्तगत कर लेने के अधिकार को न माने जो वह उत्पत्ति के साधनों पर स्वामित्व होने के कारण कमाता है अपितु पूँजीपतियों के अस्तित्व की आवश्यकता पर ही शंका करने लगें। फेबियन समाज ने आरम्भ में इन्हीं दिशाओं में प्रचार किया था।

फेबियन विचारक पूँजी को श्रमिकों की कमाई में से पूँजीपति द्वारा चुराया गया धन नहीं बतलाते। इसके प्रतिकूल उनके अनुसार मार्क्स के तर्कों द्वारा ही यह प्रमाणित होता है कि किसी समय समाज के विकास में पूँजीपति का काफी लाभदायी और यहां तक कि आवश्यक हाथ रहा था। औद्योगिक क्रान्ति की आरम्भिक अवस्था में पूँजीपति ने उद्योगों के संगठन में अनिवार्य कृत्य का सम्पादन किया था। इसलिये यदि यह मान भी लिया जाय कि सम्पूर्ण विनिमय अर्घ पर उसका कभी भी अधिकार नहीं था तथा अब उद्योगों का संचालन अधिकाधिक वेतन भोगी प्रबन्धकों के हाथ में होने से उस पर उसका बिलकुल भी अधिकार नहीं रह गया है, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रमिकों के साथ मिलकर जो विनिमय अर्घ पूँजीपति ने उत्पन्न किया था उसका कुछ भाग उसे मिलना चाहिये था।

मार्क्स ने जिस विनिमय अर्घ की चर्चा की है और जिसे श्रमजीवियों द्वारा अपने शारीरिक श्रम से उत्पन्न किया जाता है उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे अर्घ हैं जो सर्वथा समुदाय द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इसलिये इनका उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये न होकर समुदाय के लाभ के लिये होना चाहिये।

इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि सामाजिक आवश्यकता के कारण ही भूमि का मूल्य होता है फेबियन समाजवादी इस प्रस्ताव से अपनी बात आरम्भ करते हैं कि भूमिकर अर्थात् भूमि की अनुपार्जित वृद्धि पर समाज का अधिकार होना चाहिये न कि ज़मीन्दार का। इसी प्रकार के प्रस्ताव सभी सामाजिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न अर्घों के सम्बन्ध में किये गये हैं।

फेबियनों ने व्यक्ति को ऐसी अलग इकाई मानने के बजाय जो बिना किसी की मदद के अतुल धनराशि अर्जित करता है, समाज की एक ऐसी जीती-जागती कल्पना पर बल दिया है जिसमें उसे एक सजीव निकाय माना जाता है, जिसकी आवश्यकतायें और गतिविधियां हर समय व्यक्ति के साथ धन के उपार्जन में सहयोग करती हैं। इस प्रकार किसी नगर की आकार वृद्धि भूमि का मूल्य बढ़ाती है, किसी स्थान पर कोयला मिल जाने से उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है और इसी प्रकार किसी जगह से रेलवे लाइन निकल जाने से भूमि का मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार समाज की, मार्ग-प्रदर्शक महान् व्यवसायी के लिये आवश्यकता उस लगान का रूप धारण करती है जो समाज उसे उसके उच्चकोटि के उद्यम, उपक्रम और साधनों के लिये देता है। लेकिन कोई भी व्यवसायी, यदि समाज को उसकी सेवाओं की आवश्यकता न हो तो उतना ही असहाय है जितनी समाज द्वारा गृह-निर्माण की आवश्यकता न रह जाने पर भूमि मूल्यहीन हो जाती है। हर स्थिति में समाज ने आंशिक रूप से अर्घ की सृष्टि की है, इतने पर भी हर स्थिति में समाज लगान देता है।

अर्घ के सृष्टिकर्त्ता के रूप में समाज की सावयवी कल्पना से स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज जो कुछ पैदा करता है उस पर नियन्त्रण रखने का और उपभोग का उसे अधिकार है। यहां से अब यह दावा करने में केवल

एक ही चरण शेष रह जाता है कि सम्पूर्ण समाज के उत्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिये और समाज को रेल पथों, खानों, सड़कों, नहरों जैसी जनोपयोगी सेवाओं का स्वामी होना चाहिये और उनका प्रशासन करना चाहिये। ऐसा हो जाने पर उत्पत्ति के साधनों और लोक-सेवाओं को समाज के कुछ व्यक्ति अपनी जेब भरने के काम में नहीं लगा सकेंगे; अपितु, उनका लाभ सब को प्राप्त होगा और समाज उस अर्घ का लाभ उठा सकेगा जिसकी उसने सृष्टि की है।

लेकिन यह स्पष्ट है कि समाज स्वयं यह विविध कार्य नहीं संभाल सकता। उसका कोई ऐसा प्रतिनिधि अंग होना चाहिये जिसके द्वारा उसकी इच्छा अभिव्यक्त हो सके, जो उसकी आज्ञाओं के अनुसार कार्य करे और सामाजिक रूप में उत्पन्न अर्घों का उसके (अर्थात् समाज के) हितों में प्रयोग करे। समष्टिवादी समाजवादी के लिये यह अंग राज्य है।[1] सम्पूर्ण समाज का प्रजातन्त्रात्मक प्रतिनिधि राज्य हो और उसमें ऐसे कुशल प्रशासक हों जो समाज के साधनों को उसके हितों की पूर्ति में सर्वोत्तम रीति से लगा सकें, यही समष्टिवादी विचारों का आदर्श है। वस्तुतः राज्य श्रमिकों का होना चाहिये, ऐसा होने पर ही जिन श्रमिकों को राज्य काम पर लगाता है वे स्वयं अपने आदेशों के अन्तर्गत कार्य करेंगे, तभी उत्पत्ति के साधनों पर जिनका स्वामित्व होगा, वे ही उनका उपभोग करेंगे। इस स्थल पर एक क्षण के लिये यह विचार कर लेना समीचीन होगा कि व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया हमें कहां तक ले आई है। अब हम राज्य को एक ऐसा कुत्सित लोक-कण्टक नहीं मानते जिसका हस्तक्षेप निजी उद्यमों और मुक्त प्रतिद्वन्द्विता के हित में घटाकर न्यूनतम कर दिया जाना चाहिये, अपितु अब हम से यह कहा जाता है कि राज्य को हम

---

१—यहां राज्य का आशय किसी भी ऐसे समाज (या समुदाय) से है जिसका संगठन सामूहिक रूप से किया गया हो; फिर चाहे वह कसबा हो, या जिला, या नगर, या प्रान्त, या राष्ट्र या (समष्टिवादियों के मतानुसार) उपभोक्ता सहकारी समाज।

सामाजिक प्रगति का ऐसा अनिवार्य और एकमात्र तत्त्व समझें जिसके द्वारा ही श्रमजीवी को उन स्वच्छन्द शर्तों से छुट्टी दिलाई जा सकती है जिन्हें पूँजीपति ने उन पर लगा रक्खा है और उसे उस अतिरिक्त अर्घ के आनन्दोपभोग करने का अवसर दिया जा सकता है जिससे विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग ने अब तक उसे वंचित रक्खा है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि समाजवाद में सन्निहित दर्शन और उस दर्शन को बाह्याभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये समाजवादियों द्वारा प्रस्तावित विभिन्न उपायों, दोनों का वर्णन कर सकें।

**२. समाजवाद का दर्शन :**

कभी-कभी व्यक्तिवादियों की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि समाजवाद के फलस्वरूप व्यक्ति राज्य के आधीन हो जायगा और इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता छिन जायगी। यद्यपि यह सम्भव है कि समाज के कुछ रूपों के अन्तर्गत व्यवहार में ऐसा भी हो जाय, लेकिन समाजवाद का लक्ष्य ठीक इसके प्रतिकूल है। वस्तुतः समाजवाद व्यक्ति को भौतिक चिन्ताओं के भार से मुक्त कर देना चाहता है जिससे वह अपने इच्छित ढंग से जीवन व्यतीत कर सके और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। लेकिन समाजवादी यह मानता है कि राज्य सावयवी है तथा इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप वह राज्य को एक ऐसी जीवनशील वस्तु मानता है जो बहुत सी अन्योन्याश्रित इकाइयों से मिलकर बनी है। फलतः उसका विश्वास है कि ऐसी स्वतन्त्रता एक व्यापक सामाजिक संगठन में ही प्राप्त हो सकती है।

दीर्घकालीन दृष्टि से समाजवादियों और व्यक्तिवादियों के लक्ष्यों में कोई अन्तर नहीं है; प्रत्येक का लक्ष्य व्यक्ति को अधिकतम् स्वतन्त्रता देना है। लेकिन जब व्यक्तिवादी यह समझता है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति सभी बाह्य प्रतिबन्धों को प्रतिसिद्ध करके तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्धों में बिलकुल हस्तक्षेप न करके हो सकती है, तब समाजवादी का यह मत है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति उसी समय हो सकती है जब कि समाज के लोग सहयोग-

पूर्वक कार्य इसलिये करें जिससे प्रत्येक को सम्पूर्ण और मुक्त जीवन की प्राप्ति के अवसर मिल सकें।

व्यक्तिवादियों ने सर्वदा व्यक्तित्व का पक्ष लिया, परन्तु उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था का अनुमोदन किया जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व भौतिक शक्तियों के भार से कुचल जाता था; समाजवादी समाज और राज्य की सेवा की बात करते हैं लेकिन उनका यह उद्देश्य होता है कि समाज द्वारा व्यक्ति उससे अधिक अंशों में आत्मविकास कर सके जितना वह एकाकी रह कर कर सकता है। वस्तुतः समाजवाद, समाज के संगठन को व्यक्तिवाद से आगे ले जाता है, लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि वह कार्यदक्षता को साध्य समझता है अपितु उसकी यह मान्यता है कि यथार्थतः व्यक्तिवाद के लक्ष्य तभी सिद्ध हो सकते हैं जब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक इष्टों की ओर अग्रसर होने के लिये मुक्त रहे।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, डार्विन के विकासवादी सिद्धान्तों द्वारा एक प्रकार का वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त हुआ था। यदि मनुष्य का अस्तित्व स्वभाव से ही संघर्षशील है तो समाज का आधार ऐसी स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता ही हो सकती है, जो मानव समाज के सदस्यों में निरन्तर चलती रहे और जिसमें केवल योग्यतम् ही बचा रह सके। इसलिये यदि यह मान लिया जाय कि मानव स्वभाव का नियन्त्रण सदा जीवन-संघर्ष से ही होता है तो व्यक्तिवादी सभ्यता का यह लक्ष्य मानते हैं कि इस संघर्ष का संगठन इस प्रकार किया जाना चाहिये, जिससे अधिक से अधिक परिमाण में जीवन रह सके। इसका अर्थ यह है कि वह जीवन के विषय में परिमाणवाचक रूप में सोचता है।

इसके विपरीत समाजवादी के अनुसार यह सम्भव है कि जीवनसंघर्ष का अतिक्रमण किया जा सके; और वह सभ्यता को उक्त लक्ष्य की पूर्ति का साधन मानता है। जीवन का उद्देश्य केवल जीवन का चिरस्थायीकरण ही नहीं है परन्तु इससे अधिक है; उत्कृष्ट जीवन केवल जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण

है। यह सभ्यता का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को अस्तित्व के संघर्ष की नितान्त चिन्ताओं से विमोचित करे और उच्चतम गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान करे।

हम किन शब्दों में 'उत्कृष्ट जीवन' की विवेचना करेंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किन वस्तुओं को मूल्यवान समझते हैं, अर्थात् यह हमारे दर्शन पर निर्भर करेगा।

तथापि हम यह मान लेते हैं कि सत्-जीवन अंशतः, आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने की हमारी योग्यता पर निर्भर करता है और इस बात पर भी कि हम उन आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति के लिये सतत् रूप से प्रयत्नशील हैं। सत्य की शोध् सत्य के लिये ही करनी; सुन्दर वस्तुओं का उनके सौन्दर्य के लिये निर्माण करना; ठीक काम करना, इसलिये कि वह ठीक है; ये सब बातें शारीरिक और मानसिक संस्कृति के एक निश्चित स्तर, रुचि के विकास और परिष्कृत शिष्टाचार सहित सत्-जीवन के तत्त्व हैं। परन्तु इन सब के लिये आवश्यक ज्ञान और वित्तीय क्षमता की भी आवश्यकता पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी प्राप्ति तभी सम्भव है कि जब मनुष्य नितांत अस्तित्व के लिये किये जाने वाले संघर्ष का अतिक्रमण कर सकता है। समष्टि-वादी की राज्य के प्रति श्रद्धा की भावना का यह रहस्य है कि उसके अनुसार राज्य द्वारा ही हम नितान्त अस्तित्व के संघर्ष का अतिक्रमण कर सकते हैं। श्री क्लटन ब्रॉक के शब्दों में: "राज्य केवल अपनी शक्ति के लिये जीवित नहीं रहता, जिसका अर्थ उसके समस्त सदस्यों की या कुछ सदस्यों की जीवन-रक्षा होता है; अपितु उसके जीवन का उद्देश्य है कि उसके सदस्य वे कार्य कर सकें जो करने योग्य हैं।" "प्रत्येक राज्य का उद्देश्य कुछ मात्रा तक सहयोग प्राप्त करना होता है और राज्य का अस्तित्व केवल इसलिये बना रहता है क्योंकि लोग सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए अपने आपको भुला देते हैं। अतएव यह प्रश्न अंततः एक राजनीतिक प्रश्न है कि मनुष्य परस्पर सहयोग क्यों करते हैं ?......इस प्रश्न का ठीक उत्तर दिये बिना, कोई भी समाजवादी तर्कसंगत और पूर्ण

समाजवादी नहीं हो सकता। वह यह है कि लोग परस्पर सहयोग इसलिये करते हैं जिससे वे जहां तक सम्भव हो जीवन-संघर्ष से बच जायं और वे काम कर सकें जो अपने आप में करने योग्य हैं।"

इस प्रकार राज्य सम्बन्धी समाजवादी दृष्टिकोण में, जो सामाजिक सिद्धांत सन्निहित है, उसके अनुसार, समाज मानव-जीवों का एक ऐसा संवास है जिसकी रचना उसमें रहनेवाले सभी व्यक्तियों को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और सत्-जीवन का अवसर देने के लिए हुई है।

क्योंकि समाजवादी समाज को इस दृष्टि से देखता है, इसीलिये यह अस्वाभाविक नहीं कि वह यह आशा करे कि मनुष्य ऐसे समाज की स्थापना के लिये कार्यरत होंगे। एक बार पूंजीपतियों का जहां निस्स्वाम्यकरण किया गया और श्रमिकों का राज्य स्थापित हुआ कि फिर लोग यह अनुभव करने लगेंगे कि समाज के लिये काम करके वे अपने ही लिये काम कर रहे हैं। राज्य द्वारा जीवन-नियमन का विरोध नहीं करेंगे, क्योंकि तब वे यह समझ जायंगे कि जिन नियमों का वे पालन करते हैं, वे सब के कल्याण के लिये बनाये गये हैं। वे अपेक्षाकृत अच्छा काम करेंगे और प्रसन्नतापूर्वक करेंगे, क्योंकि वे यह जानते होंगे कि उनके परिश्रम के फल से किसी पूंजीपति की लाभ राशि में वृद्धि नहीं होगी, अपितु सब लोगों को अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, अधिक समृद्ध और अधिक मुक्त जीवन बिताने का अवसर मिलेगा।

इस तरह समाजवाद का लक्ष्य निजी लाभ के उद्देश्य को हटाकर समाज-सेवा के उद्देश्य को प्रतिष्ठित करना है। आजकल का समाज मज़दूरों को भूखों मरने का भय दिखलाकर, शोषकों के लाभ के लिये, उन्हें काम करने को विवश करता है। लेकिन इस समाज में वे उतना काम करने को प्रस्तुत न होंगे जितना उस समाज के लिये, जिसमें वे अपने और समाज के लाभों में अभिन्नता पायेंगे। वे उस समाज में अच्छे जीवन के निर्माण के लिये अधिक हर्ष से परिश्रमपूर्वक कार्य करेंगे, जिससे अच्छे जीवन के लिये आवश्यक अवकाश और वित्तीय क्षमता सबों को उपलब्ध हो सके। यही समाजवादी मान्यता है।

यदि समाजवादियों की यह धारणा असत्य है, यदि मानव-जीवन की मनोवृत्ति यह है कि वह समाज के कल्याण के लिये स्वेच्छा से कभी काम न करेंगे, अपितु सदैव अपने निजी स्वार्थों के ही लिये काम करेंगे तो समाजवादियों द्वारा बनाया पूरा भवन धराशायी हो जाता है। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही सारा समाज आधारित है। या तो मनुष्य उक्त अर्थों में सामाजिक मनोवृत्तियुक्त है या वह उक्त मनोवृत्ति रहित है और उसमें वह मनोवृत्ति उत्पन्न ही नहीं की जा सकती है। अतः हम अन्तिम अध्याय में इस मनोवैज्ञानिक धारणा पर विचार करेंगे, क्योंकि यह सभी प्रकार के समाजवादी सिद्धान्तों में समान रूप से सन्निहित है।

**३. समष्टिवादी समाजवाद की योजनाएं और नीति :**

"एनसाइक्लोपाडिया ब्रिटेनिका" (के ग्यारहवें संस्करण) में समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की गई है : 'समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है, जिसका लक्ष्य किसी केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक शक्ति की कार्यवाही द्वारा अच्छे वितरण की व्यवस्था करना है, और उसी शक्ति की अधीनता में धन की उत्पत्ति की वर्त्तमान से अच्छी व्यवस्था करना है।' यह परिभाषा समष्टिवादी समाजवाद के लक्ष्यों की दृष्टि से अनुचित नहीं है, और एक महत्त्वपूर्ण अपवाद के अतिरिक्त वह यदि समाजवादियों के अधिकांश लक्ष्यों का वर्णन नहीं करती तो अनेक लक्ष्यों को स्पष्ट तो कर ही देती है। इस परिभाषा में जिस बात का उल्लेख नहीं किया गया है, उस बात पर हम आगे विचार करेंगे। वर्त्तमान स्थल पर हम केवल उन विभिन्न उपायों का वर्णन करेंगे जिन्हें समाजवादी (१) धन का अपेक्षाकृत अधिक अच्छा वितरण करने के लिये और (२) समुदाय के सामाजिक जीवन को समाज द्वारा विनियमित करने के लिये काम में लाना चाहते हैं। नीचे लिखे उपाय ऐसे हैं जिन्हें किसी भी विचारधारा का समाजवादी स्वीकार कर लेगा।

**(१) उत्पत्ति के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर दिया जाय। इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये महत्त्वपूर्ण उद्योग और सेवायें सार्वजनिक स्वामित्व और नियन्त्रण के अन्तर्गत कर दी जायें।**

(२) उद्योग का संचालन समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाय न कि उनको चलाने का उद्देश्य व्यक्तियों के लिये लाभार्जन हो। इसलिये उत्पत्ति के क्षेत्र और प्रकृति का निश्चय सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया जाय, न कि व्यक्तिगत लाभ के आधार पर।

(३) व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज सेवा उद्देश्य होना चाहिये, जो उद्योगों के व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण आजकल सम्भव नहीं है।

ऊपर जिन तीन प्रस्तावों की रूप-रेखा अंकित की गई है उनके सम्बन्ध में, यद्यपि सभी समाजवादी सहमत हैं, तथापि, इन प्रस्तावों को व्यवहारिक रूप देने के सम्बन्ध में जिन साधनों को उपयोग में लाया जायगा उनके विषय में गम्भीर मतभेद है। इस अध्याय के शेष भाग में हम समष्टिवादी समाजवादियों की नीति की चर्चा करेंगे जो विकासशील समाजवाद में विश्वास रखते हैं। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि समाजवाद की जिन विचारधाराओं का वर्णन हम आगामी दो अध्यायों में करेंगे, वे इन विभिन्न प्रस्तावों में से जिनका वर्णन यहां किया जायगा बहुत थोड़े प्रस्तावों को, साधनों और लक्ष्यों के रूप में, स्वीकार करने को प्रस्तुत होंगी।

उपर्युक्त तीन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने पर जो सामाजिक परिवर्तन आवश्यक होंगे उनके लिये समष्टिवादी समाजवादी जिन साधनों को अंगीकृत करने का प्रस्ताव रखते हैं, वे सर्वथा संविधानिक हैं। वे वर्त्तमान राज्य की सहायता से ही सारे परिवर्त्तन करना चाहते हैं। राज्य को वे जनमत द्वारा प्रभावित करेंगे; और जनमत को वे व्यापक समाजवादी प्रचार की सहायता से ढालेंगे और यह जनमत निर्वाचनों के द्वारा राज्य को समाजवादी आदर्शों के अनुकूल परिवर्तन करने के लिये विवश करेगा। उपर्युक्त व्यवस्था में कोई आकस्मिक परिवर्तन तथा हिंसापूर्ण संक्रमणकाल द्वारा पूंजीवादी समाज से सम्बन्धविच्छेद कर समाजवादी शासन स्थापित करने की कल्पना नहीं है। जीव-शास्त्रीय धारणा पर पूर्ण आस्था रखते हुए कि समाज एक सावयवी है, समष्टिवादी समाजवादियों का कहना है कि समाज में परिवर्तन क्रमशः ही हो

सकता है; और हर परिवर्तन समाज की पूर्ववर्त्ती स्वभाव की दशाओं के अनुकूल होना चाहिये। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम वर्त्तमान अवस्था से ही अपना कार्य आरम्भ करें, और वर्त्तमान स्थिति के अनुसार ही भविष्य की दिशा, द्रुतता तथा उठाये जानेवाले चरण निर्धारित करें। फेबियनों ने, जिन्होंने समष्टिवादी समाजवादियों का मार्ग प्रशस्त किया है, तदनुसार, चुपचाप लोक-सेवाओं को अपने आदर्शों से अभिभूत करने का प्रयत्न किया और इस बात पर बल दिया कि आर्थिक प्रक्रियाओं को विनियमित करने में निरन्तर और अबाध रीति से हस्तक्षेप किया जाय। इस नीति के सुफल ट्रेड बोर्ड अधिनियमों, स्वास्थ्य और बेकारी बीमा अधिनियमों, वृद्धावस्था पेन्शन अधिनियमों, स्थानीय शासन अधिकारियों की शक्ति के विस्तार तथा अन्य समाजवादी प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित करनेवाले कार्यों के रूप में दिखलाई पड़े। फेबियनों ने जनमत को समाजवादी रेखाओं पर ढालने के लिये भी व्यापक प्रचार किया।

समष्टिवाद में विश्वास रखनेवाले समाजवादी, सांसदीय कार्यवाही द्वारा, राज्य के कृत्यों को न केवल क्रमशः होनेवाले वांछित परिवर्तनों का साधन ही मानते हैं, अपितु वे स्वरूपान्तर का कार्य पूरा हो जाने के बाद, राज्य की सहायता से उस सामाजिक और आर्थिक जीवन का विनियमन भी करना चाहते हैं जिसके वे अधिवक्ता हैं। शासन-यन्त्र ही लक्षित इष्टों को क्रियान्वित करेगा; और शासन-यन्त्र ही सुदृढ़ और प्रजातान्त्रिक रेखाओं पर सुधरी लोक-सेवाओं द्वारा, संक्रान्तिकाल के समाप्ति के उपरान्त, प्रशासन का नियन्त्रण करेगा।

यहां तत्काल यह प्रश्न उठता है कि शासन का अर्थ क्या केन्द्रीय शासन ही होता है और राज्य का अर्थ क्या वेस्टमिन्स्टर की संसद ही है? शासन और राज्य की इस कल्पना का समष्टिवादियों ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। उन पर अतिकेन्द्रीकरण का पक्षपात करने के जो आरोप लगाये गये हैं, उनको ध्यान में रखते हुए यह तथ्य बलपूर्वक स्पष्ट कर देना उचित होगा कि फेबियन समाजवाद अपने आरम्भिक दिनों में भी इस बात का पक्षपाती था

कि स्थानीय शासन के क्षेत्र और उनकी गतिविधि को व्यापक बनाया जाय।

बर्नर्ड शॉ ने बहुत पहले सन् १८८९ में ही लिखा था, "कोई भी प्रजातन्त्र-वादी राज्य उस समय तक प्रजातान्त्रिक-समाजवादी राज्य नहीं बन सकता, जब तक उसकी जनसंख्या के प्रत्येक केन्द्र में कोई ऐसा स्थानीय शासकीय निकाय न हो जिसका संगठन उतना ही प्रजातान्त्रिक हो जितनी केन्द्रीय संसद का है।" और इधर हाल के कुछ वर्षों में श्रेणी-समाजवादियों (गिल्ड सोशलिस्ट) की आलोचना तथा अन्य समाजवादी विचारधाराओं की आलोचना के अन्तर्गत, जिनकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे, इंगलैण्ड की समाजवादी विचारधारा स्थानीय शासनाधिकारियों को ऐसे बहुत-से कार्य देने के पक्ष में निरन्तर झुकती जा रही है, जो पहले केवल केन्द्रीय लोक-सेवा के ही क्षेत्र में माने जाते थे। ब्रिटिश श्रमिक दल सन् १९१९ में प्रकाशित "लेबर एण्ड दी न्यू सोशल ऑर्डर" नाम की पुस्तिका में जो अनेक दृष्टियों से विकास-वादी समाजवादियों के तात्कालिक लक्ष्यों का सर्वोत्तम आधुनिक वक्तव्य है, इस बात का सबल समर्थन करते हुए पाते हैं कि युद्धोपरान्त सामाजिक पुन-र्निर्माण की समस्त शाखाओं में "प्रजातान्त्रिक रीति से निर्वाचित स्थानीय शासकीय निकायों को, काम करने का अधिकतम् क्षेत्र प्रदान किया जाय। केन्द्रीय सरकार के विभागों का यह कार्य होगा कि वे स्थानीय निकायों ( local bodies ) के अधिकारियों को अपेक्षित सूचनायें और अनुदान देकर उनकी सहायता करें, तथा एक न्यूनतम् कार्यदक्षता पर बल दें। लेकिन स्थानीय निकायों को "निश्चित न्यूनतम् के अतिरिक्त अपनी सेवाएँ विकसित करने और जिस तरह चाहें, चलने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।" इनमें जल, गैस, बिजली, मकानों की व्यवस्था और स्थानीय यातायात के अतिरिक्त शिक्षा के प्रबन्ध की व्यवस्था, स्वच्छता, पुलिस, पुस्तकालयों और पार्कों की योजना, सार्वजनिक स्थानों में संगीत और मनोरंजन की व्यवस्था, कोयले की फुटकर बिक्री और दुग्ध वितरण की व्यवस्था भी सम्मिलित है। वास्तव में वे सब विषय जो न केवल मनुष्यों के शारीरिक स्वास्थ्य

अपितु, वे भी जो उनके आध्यात्मिक और मानसिक कल्याण के लिये आवश्यक हैं, स्थानीय अधिकारियों द्वारा विनियमित और नियन्त्रित किये जाने चाहिये। इसलिये जहां तक राजनीतिक प्रशासन का सम्बन्ध है समष्टि-वादियों पर सामान्यतः लगाये जानेवाले इस अभियोग की पुष्टि करना कुछ कठिन प्रतीत होता है कि वे अतिकेन्द्रीकरण चाहते हैं।

ऊपर जिस पुस्तिका की चर्चा की गई है उसमें ब्रिटिश श्रमिक दल ने जिन उपायों का समर्थन किया है, वे सामान्यतः इतने शिक्षाप्रद हैं और इतनी स्पष्टता से समष्टिवादी समाजवाद की गति-दिशा की ओर संकेत करते हैं, उसके लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं तथा जिस शालीनतापूर्वक उनका अनुसरण करते हैं, उनको ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत स्थल पर उसके प्रमुख विचारों को उदार-वादी समाजवाद के विशिष्ट कथनों के रूप में उद्धृत् करना उचित होगा।

नीचे लिखे विचारों को अपने आप में भी लक्ष्य माना जाना चाहिये और उनको अपने से परे लक्ष्यों की पूर्त्ति का साधन भी समझना चाहिये; अर्थात्, वे समाज के ढांचे में भी वांछनीय हैं और वे इसलिये भी वांछनीय हैं कि उनकी सहायता से एक भिन्न और उत्कृष्ट समाज की रचना होगी।

श्रमिक दल ने सबसे पहले तो यह विश्वास प्रकट किया है कि नयी सामा-जिक व्यवस्था का आविर्भाव संघर्ष पर आधारित न होकर बन्धुत्व पर आधा-रित होगा। उसका आधार नितान्त जीवन के साधनों के लिये होने वाले प्रतियोगात्मक या प्रतिद्वंद्वात्मक संघर्ष पर स्थित न होकर समझ-बूझकर बनाये गये उत्पादन और वितरण के उस आयोजित सहयोग पर निर्भर होगा जिनसे शारीरिक और मानसिक परिश्रम करनेवाले सभी व्यक्तियों का लाभ होगा। इतना आरम्भ में ही कह देने के बाद श्रमिक दल ने निम्नलिखित प्रस्ताव रक्खे हैं :

(१) राष्ट्र भर के लिये न्यूनतम भृत्ति निर्धारित हो और इसका सार्वभौमिक रूप से देश भर में लागू किया जाना;

(२) उद्योगों का जनतन्त्रवादी नियन्त्रण;

(३) राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था में आमूल परिवर्तन; तथा

(४) अतिरिक्त धन का सामान्य कल्याण के लिये प्रयोग किया जाना।

प्रस्ताव (१) राज्य इस उत्तरदायित्व के इस विश्वास पर आधारित है कि उसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये इतनी भृत्ति की व्यवस्था करनी चाहिये जिससे उसकी मानसिक, शारीरिक और चारित्रिक प्रतिभाओं का पूर्ण विकास हो सके। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए कारखाना अधिनियमों का पंजीकरण होना चाहिये तथा उन्हें व्यापक बनाया जाना चाहिये, प्रति सप्ताह ४८ घण्टों से अधिक काम नहीं लिया जाना चाहिये तथा यह सिद्धान्त माना जाना चाहिये कि समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जायगा।

राज्य के इस कर्त्तव्य पर भी बल दिया गया है कि वह बेकारी न बढ़ने दे। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये कहा जाता है कि राज्य को स्कूल छोड़ने की आयु १६ वर्ष निर्धारित कर देनी चाहिये। जब किसी कारण से काम देना असम्भव हो, उस समय श्रमिक संघों द्वारा बेकारों के अच्छी प्रकार से रहन-सहन और सार्वजनिक व्यय पर उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये।

प्रस्ताव (२) पर हम अगले अध्याय में और विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। सम्प्रति यह जान लेना चाहिये कि इसमें समाजवादियों द्वारा इच्छित रेलों, खदानों, बिजली घरों और नहरों के राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था सम्मिलित है। इसी में पूँजीपतियों और ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों के क्रमिक उन्मूलन की व्यवस्था भी सन्निहित है। यह उन्मूलन समुचित क्षतिपूर्त्ति के बाद किया जायगा। यह प्रस्ताव इस पर भी बल देता है कि मुनाफा कमानेवाली विभिन्न औद्योगिक बीमा कम्पनियों का भी निस्स्वाम्यकरण किया जाय तथा राज्य का एक विभाग ही सम्पूर्ण जीवन बीमा व्यवसाय को अपने हाथ में ले ले।

इसीमें शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धी सिफारिशें भी की गई हैं। ये सिफारिशें राज्य के प्रत्येक सदस्य के सम्बन्ध में हैं तथा इनको करते समय सामाजिक वर्गों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया है। इन सिफारिशों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का

समान अवसर दिया जायगा जिससे उनके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित समस्त प्रतिभाओं को समुचित बाह्याभिव्यक्ति मिल सके। संस्कृति और ज्ञान भी, यह कहा गया है, कि किसी छोटे-से वर्ग के एकाधिकार नहीं है। वे प्रत्येक नागरिक की पैतृक सम्पत्ति हैं और प्रत्येक नागरिक को इनके उपभोग की पूरी स्वतन्त्रता है चाहे उसके जनकों के साधन कुछ भी क्यों न हों।

इसके बाद पुस्तिका में प्रशासन की समस्याओं पर विचार किया गया है। श्रमिक दल नौकरशाही और अतिकेन्द्रीकरण के भय के प्रति अत्यन्त सजग है। अतएव इसके बाद स्थानीय संस्थाओं की गति विधियों को व्यापक बनाने तथा उनके कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के लिये व्यवस्थायें भी दी हुई हैं। इन पर ऊपर हम संक्षेप में विचार कर आये हैं। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में भी यह सिफारिश की गई है कि स्कॉटलैण्ड, वेल्स और इंगलैण्ड की अलग-अलग राष्ट्रीय संसदें हों। और इन तीन संसदों के कार्य-कलापों का वेस्टमिन्स्टर स्थित एक संघ-संसद योजन करे।

इसी प्रसंग में हमें उद्योगों के जनतन्त्रवादी नियन्त्रण की भी सिफारिशें मिलती हैं। यह नियन्त्रण उद्योगों में काम करनेवाले श्रमजीवियों द्वारा ही होगा। इसीके साथ राष्ट्रीय स्वामित्व की भी मांग की गई है। पुस्तिका का यह अंश समाजवादी सिद्धान्तों के उन विकासों से बहुत ही अधिक प्रभावित है जिसका वर्णन आगामी अध्याय में किया जायगा।

प्रस्ताव (३) आय के उन स्रोतों के प्रश्न से सम्बद्ध है जिनके द्वारा उपर्युक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये धन प्राप्त किया जायगा। यह बिलकुल स्पष्ट है कि न्यूनतम राष्ट्रीय जीवन-स्तर में किसी भी तरह के अनधिकार हस्तक्षेप की अनुमति नहीं दी जायगी; इसी प्रकार क्लर्कों और निम्न मध्यमवर्ग के लोगों की लघु आयोंमें भी कोई कमी नहीं की जायगी। इस सिद्धान्त के आधार पर आय तथा अतिरिक्त करों में इस प्रकार के परिवर्तनों और क्रमबद्धता का सुझाव दिया गया है जिससे सभी करदाताओं पर करों का भार लगभग समान रूप से पड़े। इस सुझाव के फलस्वरूप वर्त्तमान आयकर की व्यवस्था में ऐसे

परिवर्तन आवश्यक हो जायेंगे जिससे इसकी दरें कम आयवालों के लिये कम और अधिक आयवालों के लिये और अधिक ऊँची हो जायगी। कम आयवाले व्यक्ति से जहां एक पौण्ड में एक पेनी कर के रूप में ले ली जायगी, वहीं लखपतियों से एक पौण्ड में उन्नीस शिलिंग कर ले लिया जा सकता है।

इस प्रस्ताव के साथ पूंजी-कर की योजना भी रखी गई है। इस योजना के अनुसार लगाये जानेवाले करों से जो आय होगी उसी आय के राष्ट्रीय युद्ध ऋण का भुगतान किया जायगा। यह कर उन लोगों की वास्तविक पूंजी पर लगाया जायगा, जिनकी आय उदाहरण के लिये १००० पौण्ड से अधिक होगी।

ये प्रस्ताव ब्रिटिश श्रमिक दल के अतिरिक्त अर्घ के सिद्धान्त के प्रति सन्निहित स्वीकृति दिखलाते हैं, और इसके फलस्वरूप किये गये उस दृढ़ निश्चय को बतलाते हैं जिसके अनुसार वह अतिरिक्त अर्घ का व्यक्तिगत स्वार्थ के हित में प्रयोग लगभग समाप्त ही कर देगा। यह अतिरिक्त अर्घ राज्य की सहायता प्राप्त योजनाओं और अनुदानों द्वारा उन्हीं लोगों को परोक्ष रूप से हस्तान्तरित कर दिया जायगा, जिन्होंने उसे उत्पन्न किया है। एक सैद्धान्तिक मत को अपने अनुरूप बनाये और व्यवहार में लाने की यह अद्भुत ब्रिटिश पद्धति है।

चौथे प्रस्ताव में लगभग उसी सिद्धान्त की पुनः सामान्य रूप से पुष्टि की गई है, जिसको तीसरे प्रस्ताव में प्रयुक्त किया गया था। इसमें खदानों के कोषों, खेतों की साधारण उत्पत्ति के ऊपर प्राप्त होनेवाला भूमि का लगान-मूल्य और वैज्ञानिक खोजों के भौतिक लाभों को "अतिरिक्त धन" बतलाया गया है, और इस बात पर खेद प्रकट किया गया है कि अभी तक यह अतिरिक्त धन कुछ भी काम न करनेवाले एक छोटे-से धनिक वर्ग की विलासिता का साधन बना रहा है। इसमें प्रस्ताव किया गया है कि भविष्य में उपर्युक्त "अतिरिक्त धन" का सामान्य जनता के कल्याण के लिये प्रयोग किया जायगा।

महत्त्वपूर्ण सेवाओं के राष्ट्रीयकरण और नगरपालिकाकरण के फलस्वरूप

ऐसे बहुत-से अतिरिक्त धन का निजी स्वामित्व स्वयमेव समाप्त हो जायगा और वह सार्वजनिक कोष में चला जायगा। इसके बाद भी यदि अस्थायी रूप से कोई उद्योग पूँजीपति के नियन्त्रण में रहता है तो अनुक्रमिक आय कर द्वारा उसके लाभ का अधिकांश भाग राज्य के पास आ जायगा। इस तरह राज्य जो अयल धन राशि प्राप्त करेगा उसका प्रयोग राष्ट्र भर में शिक्षा फैलाने, न्यूनतम् राष्ट्रीय आय का मानदण्ड ऊँचा करने, बीमारों और निर्बलों की चिकित्सा और उनका पालन-पोषण करने, माता बननेवाली स्त्रियों की सहायता, वैज्ञानिक शोधों को प्रोत्साहित और समाज या समुदाय के सामान्य जीवनस्तर को ऊँचा करने के लिये किया जायगा।

स्पष्टतः यह बाद के प्रस्ताव एक ऐसे शासन की पूर्व कल्पना कर लेते हैं जो समाजवादी आदर्शों से अभिभूत हो। वस्तुतः उक्त प्रस्ताव साधन न होकर लक्ष्य हैं। वे उन लक्ष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो केवल किसी समाजवादी राज्य में ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

इस स्थल पर स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ऐसा राज्य किस प्रकार का होगा, उसका ढांचा कैसा होगा, तथा उसके शासन का क्या रूप होगा? श्री और श्रीमती सिडनी वेब ने इन प्रश्नों को अपनी पुस्तक "ए कॉन्स्टीट्यूशन फॉर द कॉमनवेल्थ ऑव ग्रेट ब्रिटेन" में उत्तर देने का प्रयास किया है। हम उनके प्रस्तावों की रूपरेखा पर भी विचार नहीं करेंगे। इसका आंशिक कारण तो स्थानाभाव है और आंशिक कारण यह विवाद है जो उक्त प्रस्तावों के कारण केन्द्रीय शासन और स्थानीय संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उत्पन्न हो जाता है। इन प्रस्तावों में उपभोक्ता और उत्पादक दोनों के अधिकार क्षेत्रों का उद्योग और राजनीति दोनों में परिसीमन किया गया है और यह विषय वस्तुतः आगामी अध्याय की चर्चा की सामग्री है। यदि कोई व्यक्ति इंगलैण्ड के नरम समाजवाद के पोषकों द्वारा समर्थित शासन का रूप जानना चाहता है तो उसे उक्त गम्भीर और व्यापक पुस्तक का अवश्य ही अध्ययन करना चाहिये।

# ४
# शिल्पी-संघवाद और श्रेणी-समाजवाद

**परिचय :**

"एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" (ब्रिटिश विश्वकोष) के ग्यारहवें संस्करण से समाजवाद की परिभाषा उद्धृत करते समय हमने कहा था कि एक महत्त्वपूर्ण अपवाद के अतिरिक्त उक्त परिभाषा आजकल के बहुसंख्यक समाजवादियों के लक्ष्यों को यथेष्ट रूप से अभिव्यत कर देती है। प्रस्तुत अध्याय में हम उस महत्त्वपूर्ण अपवाद पर विचार करेंगे। यह तो आपको स्मरण ही होगा कि सम्बन्धित परिभाषा में समाजवाद को एक ऐसा सिद्धान्त बतलाया गया था "जिसका लक्ष्य एक केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता की सहायता से" धन की अधिक अच्छी वितरण-व्यवस्था करना है। यदि 'केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता' का अर्थ वर्तमान राज्य है तो ऐसे बहुत से समाजवादी निकल आयेंगे, जो इस केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता को एक ऐसे साधन के रूप में अस्वीकार करने को प्रस्तुत हों, जिसके द्वारा धन की अब से अच्छी वितरण व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है अथवा जिसके आधार पर भावी समाजवादी समाज का रचना सम्भव हो सकता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दिनों में राज्य के प्रति तथा उस राजनीतिक सिद्धान्त के प्रति, असन्तोष की बढ़ती हुई भावना देखी गई, जो हेगेल का अनुसरण करते हुए राज्य को दैवी आदर्श गुणों से युक्त अपरिहार्य शक्ति मानता है तथा जिसके अनुसार प्रत्येक प्रकार के समाज में, चाहे यह कितने ही नवीन प्रकार का क्यों न हो, सम्प्रभुता के कृत्य सम्पादित करने के लिये राज्य आवश्यक है। इस दृष्टिकोण के विपरीत हमें ऐसे भी सिद्धान्त मिलते हैं, जो राज्य को उपभोक्ताओं का संघ मानते हैं। उनके अनुसार अनेक ऐसे संवासों में से राज्य भी एक संवास है जिसकी सदस्यता व्यवित को स्वेच्छा पर निर्भर है। वह केवल शासनयन्त्र मात्र है, जिसे एक ऐसे अन्य शासनयन्त्र को स्थानासीन करने के

लिये सहर्ष विघटित किया जा सकता है, जो समुदाय की आवश्यकतापूर्त्ति अधिक अच्छे ढंग से कर सकता है। इनके द्वारा सामान्य संकल्प को केवल कल्पना-मात्र बतलाया गया है; अथवा, उसे बहुत से ऐसे संकल्पों में विभक्त कर दिया गया है जिनमें से प्रत्येक की अभिव्यक्ति के लिये एक पृथक प्रकार के प्रतिनिधि निकाय की आवश्यकता पड़ती है।

युद्धकाल में राज्य-नियन्त्रण के अनुभव से, उसके प्रति जो असन्तोष था वह दूर नहीं हुआ, अपितु और भी पुष्ट हो गया, तथा जैसा हम देख चुके हैं, समष्टिवादी समाजवाद तक में, सर्वशक्तिमान केन्द्रीय शासन के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष के कारण, पर्याप्त अंशों में सुधार किये गये।

समाजवादियों के दो सम्प्रदायों ने, शिल्पी-संघवादियों तथा श्रेणी-समाजवादियों ने, समष्टिवादी राज्य की सब से अधिक आलोचना की है।

शिल्पी-संघवाद का सिद्धान्त श्रेणी-समाजवाद से पुराना है। समष्टिवादी जितने ही राज्य के पक्ष में हैं शिल्पी-संघवादी राज्य के उतने ही विरुद्ध हैं। इसीलिये, यद्यपि, हम पहले शिल्पी-संघवाद पर विचार करेंगे, तथापि इस कार्य में हमें अधिक समय नहीं लगेगा, क्योंकि शिल्पी-संघवाद के प्रायः सभी मूल्यवान तत्त्वों को श्रेणी-समाजवादियों ने ग्रहण कर लिया है। श्रेणी-समाजवादियों के विचार इधर हाल के समस्त समाजवादी सिद्धान्तों में सब से अधिक तर्कपूर्ण तथा विचारपूर्ण हैं।

**१. शिल्पी-संघवाद :**

शिल्पी-संघवाद ( syndicalism ) एक सामाजिक मत या सामाजिक संगठन का सिद्धान्त तथा एक क्रियात्मक योजना, दोनों का नाम है। क्रियात्मक योजना मार्क्स के वर्ग-युद्ध का ही एक विशिष्ट पक्ष है, और इस योजना का लक्ष्य शिल्पी-संघवादी सामाजिक संगठन को जन्म देना है। यद्यपि, शिल्पी-संघवादियों की क्रियात्मक योजना सीधी, सबल तथा सुपरिभाषित है, तथापि, जिस सामाजिक संगठन को वह स्थापित करना चाहती है वह अत्यन्त अस्पष्ट है। इसमें यद्यपि भावी समाज की सामान्य रूपरेखा की ओर संकेत

किया गया है लेकिन यह रूपरेखा अत्यन्त धुँधली-सी है, तथा इसका विस्तृत विवरण नहीं किया गया है। इस अस्पष्टता का भी कारण है तथा यह जान-बूझकर रक्खी गई है। इसका कारण हमारी समझ में तब आ जायगा, जब हम उस दर्शन का अध्ययन करेंगे, जिसने शिल्पी-संघवादी नेताओं को प्रभावित किया कहा जाता है।

सर्वप्रथम हम शिल्पी-संघवादियों के सामाजिक संगठन सम्बन्धी विचारों का वर्णन करेंगे, दूसरे उनका क्रियात्मक योजना के सम्बन्ध में बतलायेंगे, और तीसरे, हम उस दर्शन के सम्बन्ध में लिखेंगे जो शिल्पी-संघवाद की आधार-भूमि कहा जाता है।

(क) **समाज का शिल्पी-संघवादी सिद्धान्त :** शिल्पी-संघवाद की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जो श्रमिक-संघों को नवीन समाज की आधारशिला और साथ ही साथ वह साधन भी मानता है जिसके द्वारा अभिनव समाज की स्थापना की जायगी। शिल्पी-संघवाद, स्पष्टत: समाजवादी है, क्योंकि यह अन्य समाजवादी मतों की भांति पूँजी को चोरी मानता है तथा वर्ग-युद्ध की धारणा की पुष्टि करता है और उसे पूँजी-वादी समाज का आधार मानता है। यह उत्पत्ति के साधनों के निजी स्वामित्व का अन्त कर, उसके स्थान पर सामुदायिक स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करना चाहता है।

समष्टिवादी समाजवाद और साम्यवाद के विरुद्ध, शिल्पी-संघवाद को मार्क्स से नहीं, अपितु प्रूधों ( Proudhon ) से प्रेरणा मिली है। प्रूधों का सम्पर्कात्मक—साम्यवाद का सिद्धान्त एक ऐसी समाज की कल्पना करता है, जो अराजकतावादियों द्वारा समर्थित ऐच्छिक संवासों के स्वतन्त्र संगठन (देखिये अध्याय ५, पृ० १११) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। फ्रांस का श्रमिक-संघ-आन्दोलन प्रूधों की शिक्षाओं से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है और इसलिये आरम्भ से ही उसने 'स्थानीयता' और आधिपत्य-विरोधी प्रवृत्तियों को अपनी विशेषताएँ बना लिया है। उक्त कारणों से फ्रांस में श्रमिक संघों को ऐसे

ऐच्छिक संवासों का प्रतिरूप माना जाता है, जो पूँजीवादी राज्य का स्थान लेंगे, और शिल्पी-संघवाद, जो फ्रेंच श्रमिक संघवाद ( trade unionism ) का विशिष्ट शिशु है, उन अराजकतावादी सिद्धान्तों से सदैव सहानुभूति रखता आया है, जिनका प्रभाव आरम्भ से ही उस पर पड़ चुका था।

शिल्पी-संघवाद तथा समष्टिवादी समाजवाद में यह अन्तर है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त तथाकथित उत्पादक के नियन्त्रण (producers' control) को महत्त्व दिये जाने का आग्रह करता है। शिल्पी-संघवादियों के दृष्टिकोण से जो अर्घ की उत्पत्ति करते हैं, उन्हींके हाथ में समाज का नियन्त्रण भी रहना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि शिल्पी-संघवादी श्रमिकों को उत्पादक के रूप मे न केवल आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में नियन्त्रणकर्ता बनाना चाहते हैं, अपितु वे ये भी मानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में भी श्रमिकों के हाथ बागडोर होनी चाहिये, अर्थात्, राज्य सहित राजनीतिक क्षेत्र समाप्त कर दिया जाय और उसके कृत्य उत्पादकों के वे निकाय सम्पन्न करने लगें जिनका संगठन व्यावसायिक आधार पर किया गया हो। इन अर्थों में शिल्पी-संघवाद श्रेणीवाद से भी भिन्न है। क्योंकि उपर्युक्त सिद्धान्त यद्यपि शिल्पी-संघवाद की भांति औद्योगिक क्षेत्र में राज्य हस्तक्षेप के विरुद्ध है और इस क्षेत्र को वह शिल्पी-संघवादियों के समान ही उत्पादकों (अर्थात् श्रमिकों) को सौंप देना चाहता है, तथापि वह राजनीतिक क्षेत्र में लोक-संकल्प के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता स्वीकार करता है। इस तरह श्रेणीवादी समाजवाद की स्थिति समष्टिवादी और शिल्पी-संघवादी समाजवादी के मध्य की है।

उपर्युक्त वर्णन से यह तो विदित हो ही जाता है कि शिल्पी-संघवाद, राज्य-समाजवाद द्वारा समाज को उपभोक्ताओं का संगठन मानने के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया है, और इसीके फलस्वरूप वह केवल उत्पादकों के ही महत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करता है। यही कारण है कि हम एक शिल्पी-संघवादी नेता पेलूतिये ( Pelloutier ) को यह कहते पाते हैं कि "क्रान्ति का काम समस्त मानवजाति को सब प्रकार के आधिपत्य से ही केवल मुक्त करना नहीं है,

मुक्ति दिलाना है।" परन्तु, उन सब संस्थाओं से भी जिनका मूल उद्देश्य उत्पादन का विकास नहीं है।

शिल्पी-संघवादियों की राज्य के तथा फलतः समाज के प्रत्येक प्रकार के राज्यीय संगठन के सम्बन्ध में, संक्षेप में नीचे लिखी आपत्तियां हैं :—

शिल्पी-संघवादी राज्य को मध्यमवर्गीय संस्था मानते हैं और इसलिये सामान्यतः वे उसके विरोधी हैं। उनका यह विरोध कुछ-कुछ अस्पष्ट-सा है। राज्य केवल आज के ही समाज में पूंजीपतियों के शोषण का साधन नहीं है, परन्तु स्वभाव से ही, वह कल के समाज में भी मध्यवर्ग की संस्था रहेगा और उसे रहना भी चाहिय। राज्य की सेवा में नियुक्त व्यक्ति अधिकाराभिमानी और सहानुभूतिहीन हो जाते हैं, फलस्वरूप वे उन लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं पर कोई ध्यान नहीं देते जो वास्तविक उत्पादन-कार्य में संलग्न होते हैं। जब तक किसी भी समाज में राज्य रहेगा, तब तक यही अवस्था रहेगी। हर केन्द्रीय संगठन एकरूपता और क्रमबद्धता की ओर प्रवृत्त होता है। उसमें कल्पनाशीलता एवं उपक्रम का अभाव होता है, तथा वह स्थानीय विकास और उद्यम को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इसलिये, यदि किसी उदार राज्य को भी उद्योगों का नियन्त्रण सौंप दिया जायगा तो वह कालान्तर में प्रगति का शत्रु हो जायगा। परन्तु यदि राज्य का यह प्रभाव उद्योगों पर पड़ता है, तो अन्य दिशाओं में भी ऐसी ही होगा। लोकसेवा का मध्यवर्गीय पदाधिकारी नहीं, अपितु शारीरिक श्रम करनेवाला श्रमिक ही यह जानता है कि उसकी क्या आवश्यकताएं हैं। यही कारण है कि औद्योगिक संगठन का कार्य शारीरिक श्रम करनेवाले श्रमिकों के हाथ में ही होना चाहिये।

जिस प्रकार शिल्पी-संघवादी राज्य को मध्यवर्गीय संस्था मानकर उसके प्रति रुचि नहीं रखते; ठीक उसी प्रकार उनका मध्यवर्गीय समाजवाद के प्रति भी अविश्वास है। शिल्पी-संघवाद का दावा है कि वही एकमात्र ऐसा समाजवादी सिद्धान्त है जिसको स्वयं श्रमिकों ने जन्म दिया है। अन्य सभी समाजवादी सिद्धान्त चतुर मध्यवर्गीय सिद्धान्तशास्त्रियों के मस्तिष्कों से आविर्भूत।

हुए हैं, और उन सिद्धान्तों में उनके उद्गम की स्पष्ट छाप है। बुद्धिजीवियों की किसी मण्डली को समाज की जो व्यवस्था आदर्श जंच जाती है, उसीके अनुरूप वे श्रमिकों का संगठन करना चाहते हैं। स्पष्टत: उन्हें श्रमिकों की आवश्यकताओं का कोई ज्ञान नहीं होता। इन आवश्यकताओं को तो वही व्यवस्था अभिव्यक्त कर सकती है जिसका निर्माण श्रमिक स्वयं करें। समाज में तीव्र वर्ग चेतना का जीवित रखना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण श्रमिकों तथा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के मध्य, चाहे उत्तरोक्त वर्ग इनके पक्ष में ही हो, समझौता वांछनीय नहीं है क्योंकि यह क्रान्तिकारी उत्साह को मन्द कर देगा।

उत्पादकों के नियन्त्रण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इससे श्रमिकों की स्वतन्त्रता बढ़ेगी तथा उद्योगों की दक्षता में भी वृद्धि होगी। यदि उद्योग का स्वामित्व और नियन्त्रण श्रमिक संघों के द्वारा हो, तो उसके प्रबन्ध में हर श्रमिक का प्रत्यक्ष हाथ होगा। इस प्रकार वह प्रजातन्त्र के सार का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपभोग करेगा। यही प्रजातन्त्र है और इसकी तुलना में, वह केवल प्रजातन्त्र की भ्रमात्मक छायामात्र है जब श्रमिक को राज्य में प्रत्येक कुछ वर्षों के बाद तीन या चार अनुपयुक्त उम्मेदवारों में से सबसे कम अनुपयुक्त उम्मेदवार के पक्ष में अपना मत डालने के लिये निमन्त्रित किया जाता है। न इनमें से किसीका उसके द्वारा संकलन किया जाता है और न वे राष्ट्रीय संसद में उसका सच्चा प्रतिनिधित्व ही करते हैं। जब श्रमिक व्यक्तिगत रूप से उद्योग के संचालन में रुचि लेगा तो वह अपना काम करते समय अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करेगा और उसकी उत्पादित वस्तुओं के परिमाण और प्रकार, दोनों की ही वृद्धि होगी।

यद्यपि हमें यह नहीं बताया गया है, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, कि शिल्पी-संघवादी शासन-व्यवस्था में समाज का क्या रूप होगा तथापि शिल्पी-संघवादी समाज में राष्ट्रीय जीवन के आर्थिक तथा औद्योगिक पक्षों के संगठन के सम्बन्ध में अनेक संकेत उपलब्ध हैं। इस स्थल में यह स्मरण रखना चाहिये कि उक्त सम्बन्ध में जो बहुत-सी योजनाएं बनाई गई हैं, उनकी सूक्ष्मताओं में

अन्तर है और उनसे उन विशिष्ट आन्दोलनों का अन्तर झलकता है जिनसे उनका जन्म हुआ है। शिल्पी-संघवाद के प्रतिनिधि सिद्धान्तों का उद्गमस्थल फ्रांस है। इसीलिये पाठकों को भावी शिल्पी-संघवादी समाज की संगठन-व्यवस्था भलीभांति समझने के लिये यह वांछनीय होगा कि संक्षेप में फ्रांस के वर्तमान श्रमिक-संघ संगठन का वर्णन कर दिया जाय।

शिल्पी-संघवाद को लोकप्रिय बनाने में फ्रांस की 'कॉनफेदराशियों जेनेराल द्यूत्रावे' ( Confederation General du Travail ) ने मुख्य भाग लिया है। इस संघ में दो प्रकार के निकाय हैं। प्रथम वर्ग के लगभग ७०० शिल्पी-संघ ( Syndicats ) हैं, अर्थात् श्रमिकों के ऐसे संघ जिनके सदस्य एक ही उद्योग या किसी उद्योग की एक ही प्रक्रिया में कार्य कर रहे हैं। इन शिल्पी-संघों को सन् १८८४ में विधि द्वारा मान्यता प्रदान की गई थी, और सन् १८९५ में पहली बार सी० जी० टी० के रूप में ये संघबद्ध हुए थे। इन्हीं शिल्पी-संघों के समानान्तर लेकिन कुछ भिन्न प्रकार के श्रमिक संगठनों का विकास भी इस समय हुआ, जिनको 'बूर्स द्यू त्रावे' ( Bourses du Travail ) कहा जाता था। एक ही स्थान में रहनेवाले विभिन्न व्यवसायों के श्रमिक इसके सदस्य होते थे। इसके कार्य अपने सदस्यों के लिये स्थानीय श्रम विनिमय केन्द्र ( labour exchange ) के कृत्य सम्पादित करना तथा सामान्यत: उस स्थान विशेष में श्रमिकों के अधिकारों के पक्ष में आवाज़ उठाना था। सन् १८९३ में इन बूर्सों का भी, एक केन्द्रीय संगठन बन गया। इसका नाम 'फेदराशियों द बूर्स द्यू त्रावे' ( Federation des Bourses du Travail ) रखा गया। सन् १९०२ में यह संघ सी० जी० टी० से सम्बद्ध हो गया। इसके फलस्वरूप एक ऐसा संगठन बना जिसमें प्रत्येक स्थानीय शिल्पी-संघ का दोहरा प्रतिनिधित्व हो गया। एक बार तो विशिष्ट व्यवसायों की आवश्यकताओं और हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले वाले एक ही व्यवसाय के श्रमिकों के संघ के रूप में और दूसरी बार किसी स्थान विशेष के श्रमिकों की आवश्यकता और हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले

विभिन्न व्यवसायों के श्रमिकों के उन शिल्पी-संघों के रूप में जिनको 'बूर्से द्यू त्रावे' कहा जाता था। यह संघठन मुख्यत: पेलूतिये ( Pelloutier ) का, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया था, काम था और इस संगठन द्वारा शिल्पी-संघवादी नीति का ग्रहण किया जाना भी मुख्यत: उसके ही प्रभाव के कारण हुआ।

फ्रेंच शिल्पी-संघवादियों ने क्रान्ति के पश्चात् समाज के संगठन की जो कल्पना की है वह स्पष्टत: सी० जी० टी० पर आधारित है। स्थानीय संघों को जिनमें निस्सन्देह सभी व्यवसाय सन्निहित होंगे, एक 'बूर्स' में संघबद्ध कर दिया जायगा जो ज़िले भर के श्रमिकों को काम दिलाने का कार्यालय होगी तथा श्रमिकसंघों की गतिविधियों का केन्द्र भी। प्रत्येक बूर्स अपनी स्थानीय आर्थिक आवश्यकताओं के सम्पर्क में रहेगी, और इस कारण वह इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये अपने पड़ोसी बूर्सों के साथ सहयोग करेगी, अर्थात् प्रत्येक बूर्स अपने स्थानीय उद्योगों के उत्पादन की मात्रा और स्वभाव दोनों को स्थिर करेगी तथा अन्य जिलों के बूर्सों के सहयोग से अपने ज़िले का माल दूसरे ज़िलों को भेजेगी और दूसरे ज़िलों से अपने ज़िले में माल मंगावेगी।

संगठन की यह अति स्थानीय व्यवस्था, जिससे फ़्रांसीसी औद्योगिकता की संकीर्ण क्षेत्रीयता झलकती है सर्वत्र शिल्पी-संघवाद की विशेषता है। जैसा हम ऊपर बतला आये हैं, शिल्पी-संघवाद प्रूधों के विचारों से बहुत प्रभावित है, और बूर्सों को सामाजिक संगठन के आधार के रूप में, निस्सन्देह, उसी की स्थानीय एककों ( local units ) की योजना से ग्रहण किया गया है। लेकिन असन्दिग्धत: ब्रिटेन जैसे देशों के लिये, जहाँ उद्योगों का विस्तृत प्रकार में संगठन किया गया है, यह व्यवस्था सर्वथा अनुपयुक्त है। सम्भवत: इस तथ्य की स्वीकृति के कारण तथा उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण को भी स्थान देने की आवश्यकता अनुभव करने के कारण (जिस आवश्यकता पर श्रेणी-समाजवादियों ने पर्याप्त बल दिया है और जिनके सिद्धान्तों ने शिल्पी-संघवाद के उत्तरकालीन विकास को पर्याप्त अंशों में प्रभावित भी किया है), सन् १९१९ की शिल्पी-संघ

कांग्रेस ने लियोन्स ( Lyons ) अधिवेशन में आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की बड़ी सेवाओं—स्थल और जलयातायात, खदान, जलशक्ति और साख संस्थाओं के औद्योगी—**राष्ट्रीयकरण** की मांग की, और **'राष्ट्रीयकरण'** की परिभाषा इस प्रकार की कि राष्ट्रीय सम्पत्ति को सम्बन्धित दलों अर्थात् सम्बद्ध उत्पादकों और **उपभोक्ताओं** को सौंपा जाय।

इन उत्तरकालीन स्वरूपों के बावजूद समाज के संगठन को लघुत्तम औद्योगिक एककों पर आधारित करने की प्रवृत्ति शिल्पी-संघवाद की मौलिक विशिष्टता है। इसका उल्लेख अमेरिकन शिल्पी-संघवादी संस्था 'इण्डस्ट्रियल वर्कर्स ऑव दि वर्ल्ड' की घोषणाओं में मिलता है। यह मत शिल्पी-संघवाद और अराजकतावाद के समान उद्‌गम की ओर संकेत करता है।

(ख) **शिल्पी-संघवाद की पद्धतियाँ:** राज्य के विरुद्ध शिल्पी-संघवादियों की धारणाओं की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, उससे यह स्पष्ट है कि शिल्पी-संघवादियों का यह विश्वास नहीं है कि समाज में जो परिवर्त्तन वे करना चाहते हैं, वे राजनीतिक साधनों की सहायता से किये जा सकते हैं। फ्रांस में ऐसा बहुधा हुआ है कि श्रमिक नेता राष्ट्रीय संसद के सदस्य निर्वाचित हो जाने के पश्चात् शनैः शनैः क्रान्तिकारी उत्साह खो बैठे और संविधानिक सुधारों की नीति के अनुयायी हो गये। इन अनुभवों से श्रमिकों ने यह सीखा कि अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उन्हें सर्वथा अपने उपर ही निर्भर रहना चाहिये। संसद का श्रमिक सदस्य अपने श्रमिकसंघ का नहीं, अपितु अपने निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण यदि वह चाहे भी तो केवल श्रमिकों के ही हितों पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। इसलिये श्रमिकों को राज्य की सत्ता संसद-सदस्य या प्रतिनिधियों द्वारा परोक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा न कर प्रत्यक्ष रूप से, अपने संघ की शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यही कारण है कि शिल्पी-संघवादी आर्थिक क्षेत्र में हर स्थान पर 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' का समर्थक है, और यदि आवश्यकता हो तो वह उसकी व्याख्या हिंसात्मक कार्यवाही के रूप में भी करने को प्रस्तुत रहता है।

इस प्रकार शिल्पी-संघवाद इस सामान्य धारणा से आरम्भ होता है कि आर्थिक शक्ति ही उच्चासन की कुंजी है। यह विचार सिद्धान्ततः माना जाता है और इसके लिये मार्क्स के तर्क सुदृढ़ प्रमाण माने जाते हैं। इसके साथ ही उपर्युक्त विचार की पुष्टि युद्ध-कौशल की दृष्टि से भी हो जाती है। श्रमिकों के राजनीतिक मत भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु उनके आर्थिक हित समान होते हैं, अतएव, औद्योगिक क्षेत्र में उनमें एक प्रकार की ऐसी सुदृढ़ एकता होती है, जिसका सामान्यतः राजनीतिक क्षेत्र में अभाव होता है। वे हड़ताल एक साथ करेंगे परन्तु एकमत से किसी एक ही व्यक्ति को निर्वाचित नहीं करेंगे। प्रत्येक दृष्टि से राजनीतिक दल क्रान्ति का एक अत्यन्त ही निर्बल साधन है, वह विच्छिन्न रहता है, उसके अधिवेशन कभी-कभी होते हैं, और उसका आकार इतना बड़ा होता है कि वह लोक-संकल्प को प्रत्यक्ष रीति से अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

इसलिये, विविध कारणों से शिल्पी-संघवादी अपनी सारी शक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रित करता है, और इस क्षेत्र में उसका सबसे मुख्य शस्त्र हड़ताल है। जहां भी और जब भी सम्भव होता है, हड़तालों को प्रोत्साहित किया जाता है। अधिक वेतन के लिये, काम के घण्टे कम करने के लिये तथा उद्योगों में अधिक नियन्त्रण शक्ति प्राप्त करने के लिये, एक मात्र साधन हड़ताल है। ऐसी हड़तालें दो प्रकार से लाभदायी हैं, अपने आप में और एक साधन के रूप में भी। वे अपने आप में इसलिये लाभदायी है क्योंकि, असफल हो जाने पर भी उनसे श्रमिकों में एकता तथा सुदृढ़ता की भावना उत्पन्न होती है, उनको आत्मानुशासन की शिक्षा मिलती है, उनमें आत्मनिर्भरता की भावना जागृत होती है, और इसके साथ ही वर्ग युद्ध की भावना घनीभूत होती है तथा राष्ट्र स्पष्ट रूप से दो विरोधी पक्षों में विभक्त हो जाता है, जिसमें एक पक्ष तो पूँजीहीन सर्वहारा होता है और दूसरा पक्ष पूँजीपति होता है। हड़तालें साधन के रूप में इसलिये अच्छी हैं, क्योंकि वे सामान्य हड़ताल ( general strike ) के दिन को और निकट लाती हैं।

क्रान्ति के एक सफल शस्त्र के रूप में सामान्य हड़ताल का सिद्धान्त अंशतः

फ्रांस के समाजवादी लेखक ब्लांकी ( Blanqui ) से ग्रहण किया गया है। सामान्य हड़ताल अनिवार्यत: सभी श्रमिकों द्वारा की गयी हड़ताल नहीं है। इसके प्रतिकूल यह आशा भी नहीं करनी चाहिये कि प्रबल वर्ग चेतना की भावना से ओत-प्रोत, केवल पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये ही हड़ताल करने को प्रस्तुत, श्रमिकों की बहुत बड़ी संख्या होगी। अतएव पूँजीवादी व्यवस्था को निष्क्रिय करने के लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि आधार-उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का एक पर्याप्त अनुपात हड़ताल कर दे। इस दृष्टि से आधुनिक उद्योगों की बढ़ती हुई जटिलताएं और एक उद्योग की दूसरे उद्योग पर निर्भरता सामान्य हड़ताल को सरलतर और अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी बना देगी; क्योंकि उक्त दशा में अल्पसंख्यक श्रमिकों के लिये भी सम्पूर्ण उद्योगों को बन्द करना सम्भव है। जैसे ही श्रमिकों का वर्ग-चेतन अल्पसंख्यक भाग, जिसकी संख्या पर्याप्त हो, संघर्ष के लिये तत्पर हो जायगा, सामान्य हड़ताल की घोषणा कर दी जायगी और उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार कर लिया जायगा। यही पूँजीवाद का अन्त होगा।

इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है कि इस प्रकार की हड़ताल, बहुसंख्यक श्रमिकों की इच्छा के विरुद्ध होने के कारण, अप्रजातान्त्रिक होगी। बहुसंख्यकों का शासन सिद्धान्त मध्यवर्गीय अन्धविश्वास कहा गया है, और इस बात पर बल दिया गया है कि कम से कम संक्रमणकालीन अवस्था में, अल्पसंख्यकों द्वारा सत्ता की बागडोर का सम्भाला जाना और श्रमिकों को उनकी मुक्ति की दिशा में ले जाया जाना आवश्यक होगा।

इस स्थल पर शिल्पी-संघवादी मार्क्स की शिक्षाओं का पूर्णरूप से पालन नहीं करते। कम से कम वे मार्क्स की नवीन व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि मार्क्स ने यह कहकर अत्यधिक आशावादिता दिखलाई है कि पूँजीवादी समाज के विकास की प्रक्रिया में एक ऐसी अवस्था आयेगी जब सर्वहारा वर्ग विद्रोह कर देगा और अपने स्वामियों को उत्पत्ति के साधनों से विहीन कर देगा। उनका कहना है कि उद्योगपति अपने वर्ग के लिये लड़ने को इतने अधिक तैयार

न होंगे जितनी, मार्क्स ने कल्पना की है। वे सौदा करके, समझौता करके तथा हजारों अन्य उपायों से स्वामी और श्रमिकों के बीच के अन्तर को मिटाने की चष्टा करग और उनका यह काम तब तक चलता रहेगा जब तक श्रमिकों में क्रान्ति का उत्साह ठण्डा नहीं पड़ जाता। ऐसी परिस्थितियों में श्रमिकों को चाहिये कि सतत्-संघर्ष की नीति अपनायें और अपनी पूरी शक्ति से उस नीति को व्यवहार में लायें। हड़ताल उनका सबसे प्रमुख शस्त्र है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के ध्वंसात्मक कार्य (sabotage) भी हैं। उदाहरणार्थ, खराब काम करना, मशीनों को तोड़फोड़ देना, किये हुए काम को बिगाड़ देना, तथा नियमों का इस प्रकार अक्षरसः पालन करना कि उद्योगों का संचालन असम्भव हो जाय। बहिष्कार की तथा लेपपत्र (label) की नीति भी अपनायी जा सकती है। उत्तरोक्त नीति से ज्ञात हो जायगा कि काम श्रमिक संघ की अवस्थाओं के अन्तर्गत किया गया है अथवा नहीं। कैकैनी-नीति ('ca' canny') भी श्रमिक अपनाएं। इसका अर्थ यह है कि इतनी अधिक सावधानी से काम किया जाय कि पूरे समय में बहुत थोड़ा काम हो सके।

इन नीतियों को, उनके शिक्षात्मक प्रभाव तथा सामान्य हड़ताल के मार्ग को सरलतर बनाने, दोनों उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु कुछ शिल्पी-संघवादी नेता इस प्रकार के कुछ ध्वंसात्मक कार्यों तथा कैकैनी-नीति को आपत्तिजनक मानते हैं, क्योंकि इससे उनके अनुसार श्रमिकों के नैतिक-उत्साह (morale) का ह्रास होता है।

**(ग) सोरेल का दर्शन :** निस्सन्देह सामान्य हड़ताल की ऊपर अंकित रूपरेखा बहुत अस्पष्ट है। परन्तु यह अस्पष्टता जानबूझकर रखी गई है। इसी प्रकार क्रान्ति के पश्चात् समाज की अवस्था का भी शिल्पी-संघवादी कोई स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करना स्वीकार नहीं करते। यह अस्पष्टता तथा अस्वीकृति सम्भवतः कुछ अंशों में फ्रेंच लेखक सोरेल (Sorel) के प्रभाव के कारण है। सोरेल के विचार राजनीति तथा दर्शन के अद्भुत मिश्रण हैं। उनमें बड़े विचित्र ढंग से एक लोकप्रिय दार्शनिक सिद्धान्त को सामाजिक समस्याओं पर

लागू किया गया है। वस्तुतः सोरेल ने बर्गसों ( Bergson ) के अन्तर्प्रेरणा सिद्धान्त का आह्वान किया है, जिसे औसत शिल्पी-संघवादी समझ नहीं सकता। इस सिद्धान्त के आधार पर जिस कार्यप्रणाली को सोरेल ने उचित ठहराया है, उसका शायद बर्गसों ही सर्वप्रथम विरोध करता।

फ्रांस में बर्गसों के विचार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे। उसके अनुसार हमारे कार्यों के लक्ष्य विवेक-बुद्धि द्वारा नहीं अपितु अन्तर्प्रेरणा द्वारा निश्चित किये जाते हैं। हमारी बुद्धि यह तो हमें बतलाती है कि जो कार्य हम करना चाहते हैं वह कैसे करें, परन्तु हमें क्या करना है इसका निर्णय करने में बुद्धि का हाथ नहीं होता। अन्तर्प्रेरणा न केवल हमारे वांछित लक्ष्यों को निर्धारित करती है, अपितु अन्तर्प्रेरणा ही ब्रह्माण्ड की प्रकृति तथा अर्थ को भी उस सीमा तक ग्रहण करती है, जहां तक हम उन्हें समझने की शक्ति रखते हैं। लेकिन अन्तर्प्रेरणा से प्राप्त दर्शन ( vision ) यद्यपि पूर्णतः स्पष्ट होता है, तथापि हम उसे बुद्धि तथा तर्क द्वारा ऐसे व्यक्ति को नहीं समझा सकते जो उसमें भागी नहीं है। यह सर्वथा निजी तथा व्यक्तिगत वस्तु है तथा आस्था की भांति अबौद्धिक है, किन्तु यह उन समस्त लोगों को जो इससे युक्त हैं, धार्मिक विश्वास की भांति काम करने के लिये विवश करता है।[१]

अन्तर्प्रेरणा का यह सिद्धान्त, जिसकी रचना मुख्यतः दार्शनिक सत्य की अनुभूति को बतलाने के लिये की गई थी, सोरेल द्वारा सामान्य हड़ताल का औचित्य सिद्ध करने का साधन बन जाता है। अतएव इसके उद्देश्यों का कोई बौद्धिक विवरण सम्भव नहीं है। सोरेल के मतानुसार श्रमिकों को विस्तार में यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि सामान्य हड़ताल क्यों की जायगी और न यह बतलाने की आवश्यकता है कि उसके पश्चात् कैसे समाज की स्थापना

---

(१) बर्गसों के अन्तर्प्रेरणा-सिद्धान्त के विस्तृत विवरण के लिये 'वर्ल्ड मैनुअल सीरीज' में प्रकाशित लेखक की पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू माडर्न फिलासाफी" का बर्गसों वाला अध्याय देखिये।

होगी। भावी समाज सम्बन्धी उनकी धारणा, जो उनकी सारी गतिविधियों का लक्ष्य है, वस्तुतः अन्तर्प्रेरणात्मक होगी। इसका यह अर्थ है कि इसका ज्ञान न तो बौद्धिक-शिक्षा द्वारा दिया जायगा और न यह कोई बौद्धिक विश्वास का रूप ग्रहण करेगा। सोरेल की भाषा में सामान्य हड़ताल श्रमिकों के लिये एक अन्ध-श्रद्धा ( myth ) के तुल्य होगी। अन्ध-श्रद्धा एक ऐसा विचार है जो मनुष्यों को उत्साह से परिपूर्ण करता है। आरम्भिक ईसाइयों को ईसा के पुनरागमन की आशा ने प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु अन्ध-श्रद्धा के बौद्धीकरण का प्रयत्न सदा भ्रमात्मक होगा। सामान्य हड़ताल का मूल्यांकन करने या उसके उद्देश्यों का अनुमान करने के लिये "विवेचना की उन समस्त पद्धतियों का अनिवार्यतः परित्याग करना होगा जिन्हें राजनीतिज्ञ, समाज-शास्त्री या राज्य-शास्त्री सामान्यतः काम में लाते हैं।"

इस सिद्धान्त के द्वारा सोरेल सामान्य हड़ताल की आलोचना तथा विवेचना को भी अप्रासंगिक बतला देता है। इसलिये इसका एक विशेष गुण यह है कि सामान्य हड़ताल की धारणा प्रत्येक प्रकार की आलोचना से परे हो जाती है। राजनीतिक वाद विवादों के लिये इससे अच्छा शस्त्र खोजना कठिन होगा। सामान्य हड़ताल के विषय में जो कुछ कहा गया है वह कुछ मात्रा तक प्रत्येक हड़ताल पर लागू होता है, क्योंकि जिन उद्देश्यों से हड़तालें की जाती हैं, वे हमारी प्रकृति के अन्तर्प्रेरणात्मक भाग में गम्भीर रूप से विद्यमान हैं, इसलिये 'वे'—अर्थात् साधारण हड़तालें—"सर्वहारा वर्ग की सर्वोत्कृष्ट, गहनतम तथा सर्वाधिक मर्मस्पर्शी भावनाओं को जन्म देती हैं। सामान्य हड़ताल उन सब का समूहीकरण कर एक संयोजित चित्र उपस्थित करती है और इस प्रकार उनमें से प्रत्येक को अधिक से अधिक प्रभावकारी बनाती है।....इसलिये समाजवाद की जो कल्पना भाषा द्वारा स्पष्ट नहीं की जा सकती यह अन्तर्प्रेरणा द्वारा तत्क्षण पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है।"

यह ध्यान में रखना चाहिये कि हम उक्त विचारों के शिल्पी-संघवादी आन्दोलन पर पड़े प्रभाव को अनावश्यक महत्त्व न दें। अनेक लेखकों ने

वास्तव में ऐसा किया है। साधारण श्रमिक बर्गसोंवादी नहीं होता और न उसने अन्तर्प्रेरणा का नाम ही कभी सुना होता। यह सन्देहास्पद ही है कि शिल्पी-संघवादी नेताओं पर भी सोरेल का अधिक प्रभाव रहा हो। शिल्पी-संघवादी आन्दोलन पहले प्रारम्भ हुआ और इसका अप्रार्थित समर्थक सोरेल बाद में आया। कुछ दिशाओं में तो शिल्पी-संघवादी विचार सोरेल की शिक्षाओं के विपरीत हैं। उदाहरणार्थ, सोरेल तथा अन्य सैद्धान्तिक ध्वंसात्मक कार्यों के विरुद्ध हैं। कार्य में टालमटोल का अर्थ उनकी दृष्टि में यह है कि श्रमिक क्रान्ति के योग्य नहीं है। परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सोरेल के विचार शिल्पी-संघवादियों की नीति को एक प्रकार का बौद्धिक समर्थन तो प्रदान करते ही हैं। इसके बिना उनकी नीति नितान्त अधैर्य की नीति लगती और वे केवल निरुद्देश्य विस्फोट के समर्थक लगते। यह समर्थन शिल्पी-संघवादी प्रचार के अधैर्यपूर्ण प्रकृति के अनुरूप ही है। सोरेल के मत में सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसका यह तर्क है कि वास्तविक हड़ताल के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचा गया है और न सोचा जाना चाहिये। उसने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि विनाश की नीति अनिवार्यतः वैमनस्य की नीति नहीं है और शिल्पी-संघवाद ऐसे सुविधाजनक सिद्धान्त को ग्रहण करने में नहीं चूका।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व के कुछ वर्षों में फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में शिल्पी-संघवादी प्रचार का प्राबल्य था। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि (१) युद्ध के पश्चात् इसने अपेक्षाकृत स्वल्प प्रगति की है; तथा (२) इंगलैण्ड में इसके कभी अधिक अनुयायी नहीं हुए। जो जाति स्वभाव से ही समझौता-पसन्द है उसके लिये यह वाद आवश्यकता से अधिक सिद्धान्तबद्ध, उग्र तथा तर्कपूर्ण है और इस कारण यह उसके बीच लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके विपरीत श्रेणी-समाजवाद के, जो अपने विचारों के लिये राज्य समाजवाद तथा शिल्पी-संघवाद दोनों का समान रूपसे ऋणी है, इंगलैण्ड में कहीं अधिक अनुयायी हैं। शिल्पी-संघवाद ने इंगलैण्डवासियों को श्रेणी-समाजवाद की भांति कभी भी प्रभावित नहीं किया। इसलिये श्रेणी-समाजवाद की तुलना में इसके

अभी अधिक अनुयायी नहीं रहे और न भविष्य में ऐसा होने की आशा है। अब हमें श्रेणीवादी समाजवाद के सिद्धान्त पर विचार करना चाहिये।

**२. श्रेणी-समाजवाद :**

श्रेणी-समाजवाद ( Guild Socialism ) के अध्ययन को तीन भागों में विभक्त कर देना सुविधाजनक होगा। सर्वप्रथम हम इसकी उत्पत्ति पर दृष्टिपात करेंगे, तत्पश्चात् इसके सामान्य सिद्धान्तों तथा उद्देश्य का वर्णन करेंगे, और अन्त में उस कार्यक्रम पर विचार करेंगे जिसके द्वारा यह अपनी उद्देश्य-पूर्त्ति करना चाहता है।

**(अ) उत्पत्ति :** श्रेणी-समाजवाद के इतिहास का अध्ययन अधिक विस्तारपूर्वक करने की आवश्यकता नहीं। उत्पत्ति की दृष्टि से यह एक विशुद्ध अंग्रेज़ी सिद्धान्त है। इसकी ओर सर्वप्रथम सन् १९०६ में ए० जे० पेण्टी ( A. J. Penty ) द्वारा लिखित 'श्रेणी व्यवस्था की पुनर्स्थापना' ( *The Restoration of the Guild System* ) नामक पुस्तक के प्रकाशन के उपरान्त लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। पेण्टी के अनुसार उद्योग में स्वशासन के मध्यकालीन सिद्धान्त को पुनः स्थापित करना चाहिये। इस व्यवस्था में दस्तकार, जो कि एक स्व-शासित श्रेणी का सदस्य होता था, उत्पादन के साधनों का भी स्वामी था और वही यह निश्चय करता था कि किस प्रकार का तथा कितना माल तैयार किया जाय। पेण्टी के तर्क अंशतः भावुकता तथा अंशतः सौन्दर्यात्मक आधारों पर आधारित हैं तथा वे बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा व्यापार की आधुनिक पद्धतियों के विरुद्ध हैं। इस कारण स्वतंत्र दस्तकारों के आधार पर उद्योगों के संगठन का प्रस्ताव आधुनिक परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं है। इसमें भी सन्देह किया जा सकता है कि उन प्रस्तावों को रखते समय पेण्टी का ऐसा प्रयोजन था। जिस प्रकार विलियम मॉरिस ( William Morris ) की कृति समाजवाद की स्वप्नदर्शी अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार पेण्टी की कृति श्रेणी-समाजवादी प्रचार की स्वप्नदर्शी अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है।

सन् १६०६ तक इस सिद्धान्त ने अधिक व्यावहारिक रूप नहीं धारण किया था। सन् १६०६ से सन् १६१२ तक बड़ी श्रमिक अशान्ति रही, जिसमें श्रमिकसंघों ने अधिकाधिक प्रमुख भाग लिया। "नवीन युग" (*New Age*) पत्रिका के स्तम्भों में एस० जी० हॉब्सन तथा ए० आर० ओरेज जैसे लेखकों ने, तदनुसार यह प्रस्ताव रखा कि श्रेणी के विचार को वर्त्तमान श्रमिक संगठनों के आधार पर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहिये। उनका यह सुझाव था कि उद्योग में उससे सम्बन्धित श्रमिकों द्वारा स्वशासन हो। इसके लिये उनका संगठन एक औद्योगिक श्रेणी-व्यवस्था में किया जाय जिसका प्रारम्भ वर्त्तमान श्रमिकसंघों के आधार पर किया जा सकता है। सन् १६१२ तक श्रेणी-विचार ब्रिटेन के श्रमिक आन्दोलन में एक निश्चित शक्ति बन चुका था। इसके पश्चात्, श्रमिक आन्दोलन से सम्बन्धित विभिन्न संगठनों द्वारा रखे गये उद्देश्यों तथा मांगों के सभी महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों में इसका प्रभाव दिखलाई देता है। विशेषतः सन् १६१६ में कोयला उद्योग आयोग ( Coal Industry Commission ) के समक्ष खनिकों ने खदानों के राष्ट्रीयकरण तथा व्यवस्था के सम्बन्ध में जो योजना विचारार्थ प्रस्तुत की थी, उसमें श्रेणी समाजवादी सिद्धान्त के कई प्रमुख तत्त्व सन्निहित हैं। सन् १६१५ के आरम्भ में राष्ट्रीय श्रेणी-संघ ( National Guilds League ) की स्थापना इस उद्देश्य से की गई कि समग्र श्रमिक आन्दोलन में श्रेणीवाद के पक्ष में प्रचार प्रारम्भ किया जाय। यद्यपि श्रमिक समाज इस प्रचार से सामान्यतः अप्रभावित ही रहा, तथापि अनेक श्रमिकनेता, विशेषतः तरुण-नेता, न्यूनाधिक अंशों में, इस वाद के समर्थक हैं।[1]

अतएव, श्रेणी-समाजवादियों के विषय में यह कहना सत्य है कि वे सिद्धान्तवादियों की एक छोटी-सी मण्डली हैं, जो श्रमिक आन्दोलन के अन्तर्गत, उसके प्रभावशाली सदस्यों को अपना मतवर्त्ती बनाने के उद्देश्य से काम कर रहे

(१) लेखक का यह कथन २० वीं शताब्दी के तृतीय दशक तक सत्य था, किन्तु अब यह लागू नहीं होता है। अनुवादक

हैं तथा सामान्यत: अपने विचारों के समर्थन के लिये वे जनता से सीधे अपील नहीं करते।

(ख) **श्रेणी-समाजवाद के सिद्धान्त तथा उद्देश्य :** राष्ट्रीय श्रेणी-संघ का लक्ष्य निम्नलिखित बतलाया गया है: "भृत्ति प्रणाली ( wage system ) का उन्मूलन, तथा राष्ट्रीय श्रेणियों की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था द्वारा, जो समाज में अन्य प्रजातान्त्रिक व्यावसायिक संगठनों के सहयोग से काम करेगी, उद्योगों में श्रमिकों के स्व-शासन की स्थापना।" यह वक्तव्य निम्नोक्त तीन सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित है और इनमें से दूसरे तथा तीसरे सिद्धान्त पहले के ही विशिष्ट प्रयोगमात्र हैं :—

(१) व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, (२) यह सिद्धान्त कि किसी उद्योग का प्रशासन उसमें शारीरिक तथा मानसिक श्रम करनेवाले सब श्रमिकों द्वारा संयुक्त रूप से किया जाय, तथा (३) यह सिद्धान्त कि व्यक्ति समाज की सेवा में जितना महत्त्वपूर्ण कार्य करते हों उसी अनुपात से उन्हें समाज में शक्ति तथा उत्तरदायित्व प्रदान किया जाय।

(१) व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन के लिये पर्याप्त महत्त्व का है अतएव इस पर विस्तारपूर्वक विचार करना उचित ही होगा। श्री जी० डी० एच० कोल ने, जिन्होंने श्रेणी-समाजवाद के विषय में बहुत लिखा है, इस सिद्धान्त को विकसित किया है तथा उसका प्रयोग औद्योगिक और राजनीतिक संगठन की समस्यायों को सुलझाने में किया है। परन्तु अनेक श्रेणी समाजवादी जो इस सिद्धान्त को औद्योगिक क्षेत्र में स्वीकार करते हैं, इसे राजनीतिक तथा प्रशासनीय क्षेत्रों के उपयुक्त नहीं मानते। यह सिद्धान्त निम्नलिखित है। किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है। इसलिये अभी तक जो भी प्रतिनिधि संस्थाएं रही हैं वे वास्तव में प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। यद्यपि यह सच है कोई भी व्यक्ति अपने पड़ोसियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है, वह उनके उद्देश्यों के एक समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस प्रकार 'क' के लिये यह सम्भव है

कि वह फुटबॉल-खिलाड़ी के रूप में अ, ब, तथा स के, जो सब फुटबॉल के खिलाड़ी हैं, सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करे। 'ख' राज के रूप में अ, द तथा य का, जो सभी राजगीर हैं, प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसी प्रकार 'ग' प्रेसबीटेरियन के नाते अ, च तथा छ का, जो सभी प्रेसबीटेरियन हैं, प्रतिनिधित्व कर सकता है। परन्तु क, ख, और ग, न अलग-अलग और न एक साथ, क के समस्त हितों का अर्थात् क का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चा प्रतिनिधित्व केवल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही हो सकता है। इसलिये केवल वे ही निकाय या संस्थाएं वास्तव में प्रजातान्त्रिक हैं, अर्थात् अपने निर्वाचकों के संकल्प को अभिव्यक्त करती हैं, जो उनके द्वारा सम्पादित विविध कार्यों से सम्बन्धित होती हैं। अतएव व्यावसायिक प्रतिनिधि निकायों के आधार पर संगठित समाज ही वास्तव में प्रजातान्त्रिक है। इनमें से प्रत्येक निकाय अपने सदस्यों के कुछ विशेष समान उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

अब हमें यह देखना चाहिये कि इन सिद्धान्तों पर आधारित व्यावसायिक प्रजातन्त्र में किस प्रकार के निकाय ( bodies ) होंगें। सबसे पहली बात यह है कि एक ही देश के निवासी होने के कारण लोगों के अनेक हित समान होते हैं। ये राजनीतिक हित हैं और अभी तक राजनीतिक दर्शन केवल इन्हीं पर ध्यान देता आया है। कर तथा विधि, बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा, और शिक्षा के एक निश्चित स्तर को बनाये रखना, राजनीतिक हित हैं। ये सब राष्ट्रीय विषय हैं जो किसी भौगोलिक क्षेत्र के निवासियों को समान रूप से प्रभावित करते हैं। इन विषयों में मनुष्यों के संकल्पों का प्रतिनिधित्व एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था द्वारा भलीभांति हो जायगा जो वर्त्तमान संसद से अधिक भिन्न नहीं होगी। इनके बाद गैस और पानी, शान्ति बनाये रखने के लिये पुलिस, स्थानीय सुविधाओं, स्वच्छता के न्यूनतम स्तर को बनाये रखना, आदि प्रश्न आते हैं। लोग इन बातों में इसलिये रुचि रखते हैं क्योंकि वे एक ही स्थानीय क्षेत्र में रहते हैं। ऐसे विषयों के लिये वर्त्तमान स्थानीय-शासन जैसी कोई क्षेत्रीय

संस्था होनी चाहिये। इन विषयों में केवल ऐसी ही संस्था व्यक्ति के संकल्प का यथोचित प्रतिनिधित्व कर सकती है।

इन प्रश्नों के बाद उत्पादन का विषय आता है। इस क्षेत्र की अपनी विशेष समस्याएं हैं, तथा इनके हल के लिये एक नये प्रकार के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होगी। प्रस्थिति (status), काम के घण्टे, भृत्ति, उत्पादन की मात्रा, आदि प्रश्नों को निर्वाचित वर्कशॉप तथा फैक्टरी समितियों द्वारा ही उचित प्रकार से लोक-संकल्प के अनुरूप, तय किया जा सकता है। परन्तु उत्पादित माल कैसा हो, कितना बनाया जाय तथा उसका क्या मूल्य रखा जाय ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध उपभोक्ताओं से भी है। इसलिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ता-परिषदें उत्पादकों के निकायों से परामर्श करें। उपभोक्ता परिषदों का यह कार्य होगा कि वे उत्पादकों की वर्कशॉप और फैक्टरी समितियों के सहयोग से व्यय तथा मूल्य के प्रश्नों को तय करें। धर्म का क्षेत्र पृथक है। इस क्षेत्र में व्यक्ति के संकल्प की अभिव्यक्ति ऊपर वर्णित हितों से पूर्णतः अलग है।

इस प्रकार व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त केन्द्रीय, सर्वशक्तिशाली राज्य की कल्पना के विरुद्ध, इस बात का समर्थन करता है कि शक्तियों तथा कार्यों को विकेन्द्रीकरण के द्वारा विभिन्न निकायों को दे दिया जाय। इससे यह आशा की जाती है कि आधुनिक जटिल समाज में मनुष्य के विविध हितों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व हो सकेगा।

यह एक ऐतिहासिक संयोग ही है कि प्रजातन्त्र का यह विशेष सिद्धान्त, जो यदि युक्तिसंगत है तो समस्त राज्य के लिये ही युक्तिसंगत है, सबसे पहले औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त हुआ। उक्त सिद्धान्त का श्रेणी-समाजवादियों ने दो कारणों से इस प्रकार प्रयोग किया। पहला कारण, उनका मार्क्स के इस कथन में विश्वास था कि "आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पूर्ववर्त्ती होती है;" अर्थात्, वे यह मानते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र तभी सम्भव है, जब पहले आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाय। इस तरह यदि उद्योगों

का संगठन प्रजातान्त्रिक रीति से हो तो समाज का संगठन अनिवार्यतः प्रजातान्त्रिक हो जायगा। दूसरा कारण यह था कि आधुनिक उद्योग ऐसे अव्यवस्थित अवस्था में है, कि जब तक उनको व्यवस्थित रूप से संगठित नहीं किया जाता तब तक सामाजिक जीवन के किसी भी पक्ष को स्वस्थ्य नहीं बनाया जा सकता है, अर्थात्, श्रेणी-समाजवादी का यह कहना है कि उद्योगों में पूँजीवाद की पद्धतियों तथा उद्देश्यों को सफलता नहीं मिल रही है। यदि और किसी कारण नहीं तो इस कारण अवश्य ही कि वर्त्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक उत्पादन के स्तर को बनाये रखने में असफल सिद्ध हो रहे हैं, देर या सबेर कोई न कोई ऐसी व्यवस्था ढूंढ़नी ही होगी जो पूँजीवाद का स्थान ले सके।

अतएव, यदि श्रेणी-समाजवादी व्यावसायिक प्रजातन्त्र का प्रयोग सर्वप्रथम औद्योगिक क्षेत्र में करता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उक्त सिद्धान्त राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसके प्रतिकूल, उसके अनुसार स्थानीय तथा राष्ट्रीय शासन के क्षेत्र में इस सिद्धान्त का विस्तार होना चाहिये। इसीलिये उसका प्रस्ताव है कि औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने के पश्चात् अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग होगा।

(२) और (३): औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने पर इस सिद्धान्त का यह रूप होगा: मुख्य सार्वजनिक सेवाओं और उद्योगों का स्वामित्व राज्य के हाथ में चला जायगा। (यहां श्रेणी-समाजवादी तथा समष्टिवादियों में कोई अन्तर नहीं है।) परन्तु यद्यपि राष्ट्रीयकरण वांछनीय है तथापि यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उद्योगों के स्वामित्व के राज्य के हाथ में पहुंच जाने मात्र से ही समस्त औद्योगिक समस्याएं स्वयमेव हल हो जायंगी।

श्रेणी-समाजवादी नौकरशाही (bureaucracy) के दोषों की ओर विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करते हैं। वे इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि लन्दन काउण्टी कौंसिल जैसे सार्वजनिक निकायों के कर्मचारी, अथवा बड़े-बड़े राज्यीय विभागों के भी कर्मचारी, जहां तक वेतन और कार्य की दशाओं का सम्बन्ध है, निजी उद्योगों के कर्मचारियों से विशेष अच्छी स्थिति में

नहीं हैं। वे निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि एक सुदक्ष नौकरशाही, यदि यह सार्वजनिक उद्योगों की भलीभांति संचालन करने की क्षमता रखती हो, तब भी उसका श्रमिकों की आवश्यकताओं से कोई सम्पर्क नहीं होगा और उनके सुझावों पर वह ध्यान नहीं देगी। अतएव यदि उद्योगों को सचमुच प्रजातान्त्रिक बनाना है तो उनका संगठन नीचे से होना चाहिये। फोरमैनों और मैनेजरों (foremen and managers) का निर्वाचन श्रमिकों द्वारा होना चाहिये और उनके प्रति ही इनको उत्तरदायी होना चाहिये। केवल इसी प्रकार संगठित श्रमिक उद्योग का संचालन प्रभावकारी ढंग से कर सकेंगे। यह अधिकार एक श्रेणी के हाथ में होना चाहिये।

वर्त्तमान श्रमिक संघ के नमूने पर श्रेणी की रचना की जावेगी। परन्तु दो महत्त्वपूर्ण बातों में यह उससे भिन्न होगी। पहली तो यह कि किसी उद्योग में संलग्न शारीरिक तथा मानसिक श्रम करने वाले सभी श्रमिक, छोटे से सन्देश-वाहक से लेकर मैनेजर तक, श्रेणी के सदस्य होंगे। दूसरी यह है कि श्रेणी का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करना नहीं अपितु उद्योग का संचालन होगा।

उद्देश्यों तथा संगठन की उपर्युक्त भिन्नताओं के कारण श्रेणियों तथा श्रमिक-संघों के कार्य-प्रणाली में दो प्रकार का अन्तर होगा :

(अ) श्रमिक संघों का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी शोषण से श्रमिकों की रक्षा करना रहा है, इसलिये इन संघों का अभी तक मुख्य काम सदैव वेतन वृद्धि तथा काम के घण्टे कम कराने पर ही विशेष रूप से ध्यान देना रहा है।

(ब) जब तक उद्योगों का संचालन पूंजीपतियों के हाथ में है तब तक श्रमिक संघों द्वारा संचालन कार्य में भाग लेने का कोई भी प्रयत्न अनिवार्यतः निषेधार्थक-रूप का होगा, अर्थात् इसका रूप यह होगा कि, "यह नहीं किया जायगा" या "यह इस प्रकार नहीं किया जायगा"; परन्तु इसका रूप यह नहीं हो सकता कि "यह किया जाय" या "यह इस प्रकार किया जाय।" फलतः यह भ्रामक धारणा बन गई है कि श्रमिक संघों का स्वभाव ही

औद्योगिक कार्य-दक्षता के मार्ग में बाधा डालना तथा उसका विरोध करना है।

कार्य-प्रणाली में उपर्युक्त अन्तरों का कारण स्पष्टतः यह है कि श्रमिक संघ का संगठन शत्रु-समाज में लड़ने के उद्देश्य से किया जाता है, जब कि श्रेणियों का संगठन मित्र-समाज में शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिये किया जायगा। ऐसा श्रमिक संघ जिसका संगठन शान्ति और उत्पादन के लिये किया जाता है युद्ध और आत्मरक्षा के लिये नहीं, जिसमें किसी उद्योग से सम्बन्धित सभी श्रमिक सम्मिलित होते हैं और जिसको उत्पादन विषयक सभी मामलों में पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार है, एक श्रेणी है। केवल इसी तथ्य के कारण कि यह श्रेणी प्रत्यक्षतः समाज के लिये कार्य कर रही है और ऐसा करने में श्रमिकों के, उत्पादकों के रूप में, लोक-संकल्प का प्रतिनिधित्व कर रही है, यह न केवल उत्पादन के पूँजीवादी स्तर को ही बनाये रखेगी अपितु उसको बढ़ायेगी और उसमें सुधार भी करेगी। यह ऐसा करने में सफल होगी क्योंकि यह समाज सेवा के उद्देश्य पर निर्भर रहेगी, जिसके लिये वर्त्तमान उद्योग-संगठन में कोई स्थान नहीं है।

इस आरोप के विरुद्ध श्रेणी अवश्य ही अपने स्वार्थों के लिये जनता का शोषण करेगी, क्योंकि इसका अपने उद्योग में उत्पादन पर एकाधिकार होगा, श्रेणी-समाजवादी इस उपर्युक्त तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि श्रेणियां समाज-सेवा के उद्देश्य से काम करेंगी। यह ठीक है या नहीं यह तो केवल व्यवहार द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। ऐसा हो सकता है कि समाज-सेवा का उद्देश्य, जिसकी यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, व्यक्तिगत लाभ की तुलना में सबल न सिद्ध हो सके। यह भी सम्भव है कि मनुष्य सर्वप्रथम अपना हानि-लाभ देखता है, इसके बाद वह सार्वजनिक कल्याण की ओर ध्यान देता है। यदि यह ऐसा है तो श्रेणी-समाजवाद भंग हो जायेगा तथा समाज में अराजकता व्याप्त हो जायेगी क्योंकि यह ऐसी श्रेणियों के शोषण का केन्द्रस्थल हो जायगा जिनको, अपने उद्योग के क्षेत्र में एकाधिकार होने के कारण,

पूंजीपतियों से भी अधिक समुदाय का शोषण करने के साधन उपलब्ध होंगे। परन्तु यदि श्रेणी-समाजवादी व्यवस्था इस मनोवैज्ञानिक कारण से सफल नहीं हो सकती तो इसी कारण कोई अन्य समाजवादी व्यवस्था भी सफल नहीं हो सकती है, क्योंकि यदि मनुष्यों को (केवल उस दशा के अतिरिक्त जहां समुदाय का लाभ होने से उनका भी लाभ होता है) इसके लिये प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि वे सामुदायिक हितों के सम्मुख अपने स्वार्थों को गौण समझें, तो लाभ तथा स्पर्धा के वर्तमान-आधार के अतिरिक्त समाज का अन्य कोई अन्य आधार सम्भव नहीं है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, यह मूल मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसके उत्तर पर ही किसी भी प्रकार के समाजवादी सिद्धान्त के विषय में हमारा रुख निर्भर होगा। इस समस्या पर हम एक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

श्रेणी-समाजवादी यह स्वीकार करते हैं कि दीर्घकाल में उनकी योजना की व्यवहार्य्यता मानव-स्वभाव की एक निश्चित धारणा पर निर्भर करती है। परन्तु यहां पर यह भी बतला देना चाहिये कि उन्होंने श्रेणियों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध कि वे अपनी उत्पादित वस्तुओं के लिये समुदाय से अधिक मूल्य लें, नियन्त्रण की व्यवस्था कर दी है।

सर्वप्रथम, यह नहीं भूलना चाहिये कि श्रेणी-समाजवादी उत्पादकों का नियन्त्रण केवल उद्योग के वास्तविक कार्य-संचालन तक ही रखना चाहते हैं। उनके अनुसार उद्योग का संचालन एक ओर तो प्रौद्योगिक विशेषज्ञों (technical experts) द्वारा किया जाना चाहिये, क्योंकि वे उसके वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक पक्ष को समझते हैं, और दूसरी ओर श्रमिकों द्वारा क्योंकि वे ही वास्तव में वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ निश्चय नहीं है कि उत्पादन के आरम्भ से लेकर उपभोग के अन्त तक, समस्त आर्थिक-प्रक्रिया उत्पादकों के नियन्त्रण में हो। यह नियन्त्रण तो केवल वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके वितरण तक ही सीमित होगा। परन्तु जैसे ही मूल्यों (prices) तथा अतिरिक्त-माल के वितरण के प्रश्न उठते हैं,

वैसे ही उपभोक्ता के हित भी सामने आ जाते हैं और व्यावसायिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्तानुसार इस सम्बन्ध में उपभोक्ताओं की इच्छा उपभोक्ता-परिषदों द्वारा ही अभिव्यक्त होनी चाहिये। इसलिये ये परिषदें श्रेणियों के सहयोग से मूल्यों का निर्धारण तथा वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था करेंगी।

प्रो० कोल के अनुसार उपभोक्ताओं के तीन प्रकार के निकाय होंगे, जिन्हें उक्त प्रश्नों के निर्णयार्थ तीन प्रकार की श्रेणियों से सहयोग करना होगा। सबसे पहले तो बड़े-बड़े राष्ट्रीय उद्योग तथा सेवाएं हैं, जिनमें खदानें, रेल-पथ, कोयला, जहाजरानी, आदि सम्मिलित हैं। इनका स्वामित्व राज्य के हाथों में होगा जो जनता के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के लिये एतदर्थ (ad hoc) राष्ट्रीय निकायों की नियुक्ति करेगा। ये निकाय राष्ट्रीय श्रेणियों से, जिनमें इन उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिक संगठित होंगे, परामर्श करेंगे। दूसरे, गैस, पानी, बिजली, स्थानीय परिवहन आदि सार्वजनिक-उपयोग-सेवाएं हैं। इनका स्वामित्व राष्ट्रीय न होकर नगरपालिकाओं के हाथ में रहेगा। स्थानीय उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व ऐसे निकायों में होगा जो स्थानीय शासन संस्थाओं की तरह होंगे। ये निकाय इन प्रश्नों के निर्णय के लिये उन स्थानीय श्रेणियों से सम्बन्ध स्थापित करेंगे, जो इन सेवाओं के संचालन के लिये उस क्षेत्र में उत्तरदायी होंगी। तीसरे, वे अनेकों कुटीर-उद्योग हैं जो घरेलू काम की वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न हैं। आजकल छोटी-छोटी निजी दुकानों द्वारा माल का जो फुटकर वितरण (retail distribution) होता है, उसे भी इसी कोटि का एक उद्योग मान लिया जायगा। इन उद्योगों का किसी भी अवस्था में, प्रो० कोल के अनुसार, न राष्ट्रीयकरण होगा और न इनका स्वामित्व स्थानीय-शासन के हाथों में जायगा। उनका यह सुझाव है कि उक्त उद्योगों का स्वामित्व सहकारिता-आन्दोलन ग्रहण कर लेगा और इसके द्वारा प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय आधार पर निकायों का निर्वाचन होगा। ये निकाय ही उपभोक्ता-परिषदों के रूप में, उन श्रेणियों से, जो इन उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों के संगठन हैं, मूल्य-निर्धारण तथा वितरण-व्यवस्था के सम्बन्ध में वार्त्ता करेंगे।

इस प्रकार के साधनों द्वारा श्रेणी-समाजवादी इस बात की पर्याप्त व्यवस्था कर देते हैं कि उपभोक्ता के हितों का, जिनका उपभोक्ता-परिषदों में प्रतिनिधित्व होगा, श्रमिकों द्वारा, जो उत्पादन तथा उसकी दशाओं का नियन्त्रण करते हैं, हनन न हो सके। करारोपण भी इस प्रकार किया जायगा कि श्रेणियों के सम्मुख, समाज के मूल्य पर अतिशय-लाभ इकट्ठा करने का लोभ नहीं रहे। श्रेणियों के मध्य लाभ की असमानता विशेष प्रकार के करारोपण द्वारा दूर कर दी जायगी।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार की योजना के अन्तर्गत राज्य की क्या स्थिति तथा उसके क्या कार्य होंगे? हम यह बतला चुके हैं कि कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा तथा कुछ विषय, जैसे, राष्ट्रीय-सुरक्षा, विधि तथा व्यवस्था, कर-निर्धारण, ऐसे राष्ट्रीय निकायों को सौंप दिये जायेंगे, जो उस राष्ट्र के समस्त नागरिकों का प्रतिनिधित्व करेंगे। परन्तु इन निकायों के स्वभाव के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी नहीं बतलाया गया है और न इसी बात पर प्रकाश डाला गया है कि इन राष्ट्रीय निकायों का वर्त्तमान रूप में संगठित राष्ट्रीय संसद से क्या सम्बन्ध होगा? इस विषय में श्रेणी-समाजवादियों में परस्पर कुछ भेद है। उनमें से अनेक पहले से ही श्रेणी-समाजवादी समाज के राजनीतिक संगठन के सम्बन्ध में निश्चित नियम नहीं बना देना चाहते। एतदर्थ राष्ट्रीय-श्रेणी-संघ के अनुसार, "किसी भी देश में सगठन का निश्चित रूप, उस परिस्थिति के पूर्व ही, जो इसको जन्म देगी, नहीं निश्चित किया जा सकता है।" सामान्यतः राष्ट्रीय श्रेणी-संघ का राज्य के प्रति विरोधपूर्ण रुख है और मार्क्स की ही भांति वह वर्त्तमान राज्य को 'सम्पूर्ण पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रबन्ध करनेवाली कार्यकारिणी समिति' मानता है। समाज के संप्रभु-सत्ता के रूप में भी श्रेणी-समाजवादी समाज में राज्य के लिये स्थान नहीं है। राज्य केवल उपभोक्ताओं का एक संघ मात्र रह जायगा, जिसका प्रतिनिधित्व अनेक राष्ट्रीय निकायों में, राष्ट्रीय श्रेणियों से वार्त्ता (negotiate) करने के लिये किया जायगा।

परन्तु कुछ अन्य श्रेणी समाजवादियों के अनुसार, श्रेणी-समाजवादी समाज में भी कुछ ऐसे काम रहेंगे, जिनको वर्त्तमान राज्य जैसा कोई राजनीतिक संगठन ही सम्पन्न कर सकता है। उन कारणों को ध्यान में रखते हुए, जिनका तृतीय अध्याय में (देखिये पृ० ४२-४५) वर्णन किया जा चुका है, इनका विचार निस्सन्देह ठीक है।

(ग) **श्रेणी-समाजवादियों का कार्यक्रम**: अन्त में हमें संक्षिप्त रूप से श्रेणी-समाजवादियों के कार्यक्रम पर भी दृष्टिपात करना चाहिये, जिसके द्वारा वे श्रेणी-समाजवादी समाज की स्थापना करेंगे।

श्रेणी-समाजवादी इस बात पर गौरव का अनुभव करते हैं कि उनका समाजवाद अत्यन्त व्यावहारिक है। यद्यपि यह सभी मानते हैं कि समाजवादी समाज की स्थापना के संक्रमणकाल में कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होगी, तथापि सिद्धान्ततः ऐसा कोई कारण नहीं है कि श्रेणी-समाजवादी राज्य की स्थापना शनैः शनैः विकास द्वारा क्यों न हो, क्योंकि यह वर्त्तमान श्रमिक-संघ संगठन के आधार पर ही आगे बढ़ता है, अतएव इसकी चेष्टा यह है कि पूंजीवादी तथा समाजवादी समाज के मध्य जो खाई है उस पर पुल बांध दिया जाय। श्रमिक संघ दो प्रकार से परिस्थिति की कुंजी हैं। एक तो यह कि वर्त्तमान श्रमिक संघ ही भविष्य में श्रेणियां बन जायंगे; दूसरे, श्रमिक संघ वह संगठन हैं जिनके द्वारा पूंजीवादी समाज के स्थान पर श्रेणी समाजवादी समाज की स्थापना की जायगी।

जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, श्रमिक संघों तथा श्रेणियों के मध्य गठन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। परन्तु श्रेणियों के कार्यों को सम्पन्न करने के लिये श्रमिक संघों में दो प्रकार के महत्त्वपूर्ण संशोधन करने होंगे। उद्योग में संलग्न सब श्रमिक उसमें शामिल होने चाहिये तथा उद्योग के संचालन में भी उनका कुछ नियन्त्रण होना चाहिये। अतएव श्रेणी-समाजवादियों द्वारा मुख्यतः श्रमिक संघों के गठन तथा कार्यों में इन दो महत्त्वपूर्ण संशोधनों के लिये प्रचार किया जा रहा है। इसलिये, सर्वप्रथम तो ये अपेक्षाकृत बड़े तथा कम श्रमिक संघ

चाहते हैं। श्रमिकों का संगठन एक नये रूप से हो। यह क्षैतिज ( horizontal ) न होकर उदग्र ( vertical ) संगठन हो। एक उदग्र संगठन में किसी उद्योग विशेष के ऊपर से नीचे तक समस्त कर्मचारी, मैनेजर से लेकर सन्देश-वाहक बालक तक, सम्मिलित होंगे। परन्तु क्षैतिज संगठन में विभिन्न उद्योगों के एक ही क्रिया ( process ) या क्रियासमूह में संलग्न सब श्रमिक सम्मिलित होंगे। यह स्पष्ट है कि इन उत्तरोक्त संगठनों का, जिनको शिल्पी-संघ कहा जाता है तथा जैसे आज अनेक वर्त्तमान हैं, बड़े औद्योगिक संघों की अपेक्षा संकीर्ण दृष्टिकोण होगा।

दूसरे, श्रेणी-समाजवादियों के प्रचार के परिणामस्वरूप श्रमिक संघों की यह प्रवृत्ति हो गई है या कम से कम कुछ वर्ष पूर्व तक थी कि, वे कारखाने के प्रबन्ध तथा अनुशासन में अधिकाधिक हस्तक्षेप करें। अधिक लड़ाकू श्रमिक संघों ने एक विशेष नीति का अनुसरण किया है जिसे "अपहारी नियन्त्रण" ( encroaching control ) नीति कहते हैं। इसका उद्देश्य पूंजीपति को अपदस्थ किये बिना, नियन्त्रण तथा संचालन सम्बन्धी अधिकाधिक कार्य श्रमिकों को हस्तान्तरित करना है। इस नीति की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। पहली तो श्रमिक संघों की यह मांग है कि कारखाने के फोरमैनों तथा ओवरसियरों का निर्वाचन इन संघों में संगठित साधारण श्रमिकों द्वारा किया जायँ और यदि श्रमिक किसी फोरमैन के सम्बन्ध में आपत्ति करें तो उसे तुरन्त हटा दिया जाय। जैसा हम देख चुके हैं, उद्योगों का नीचे से संगठन श्रेणी-समाजवाद के मूल सिद्धान्तों में से एक है। यद्यपि ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं जहां कि श्रमिक संघ के सदस्यों द्वारा फोरमैनों का निर्वाचन हुआ है, तथापि इन एक-दो स्थानों में भी इस अधिकार का मिलना, श्रमिकों द्वारा उद्योगों के नियन्त्रण की दिशा में महत्त्वपूर्ण पग समझा गया है।

"अपहारी नियन्त्रण" नीति की दूसरी विशेषता "सामूहिक अनुबन्ध" ( collective contract ) है। प्रथम महायुद्ध के समय ऐसे एक-दो उदाहरण मिलते हैं जब किसी श्रमिक संघ ने एक या कुछ पूंजीपतियों के साथ

सामूहिक-समझौता कर लिया था। इसके द्वारा न केवल उत्पादन की मात्रा तथा प्रकार ही निश्चित कर दिये गये थे, प्रत्युत इसमें इसका भी उल्लेख कर दिया गया था कि किसी कारखाने, दूकान या हाते में काम करनेवाले सब श्रमिकों की सेवा की क्या शर्तें होंगी तथा उनकी भृत्ति की कितनी राशि होगी। इस प्रकार के अनुबन्ध के अन्तर्गत श्रमिक संघ का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि निश्चित मात्रा से कम उत्पादन न हो। श्रमिकों के अधीक्षण की व्यवस्था, फोरमैनों की नियुक्ति तथा उन्हें पदच्युत करना भी इसीके अधिकार में आ जाता है। इसी प्रकार श्रमिकों के मध्य भृत्ति का वितरण व्यक्तिगत रूप से नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण भृत्ति-राशि श्रमिक संघ को दे दी जाती है जो सम्बन्धित कारखाना या वर्कशॉप समिति द्वारा उसे श्रमिकों को बंटवाता है।

अभी तक सामूहिक अनुबन्ध की नीति अधिक आगे नहीं बढ़ पायी है। परन्तु इतना स्पष्ट है, कि जहां भी श्रमिकों ने पूंजीपति को इस प्रकार के समझौते के लिये पूर्णतः या आंशिक रूप से राजी कर लिया है, वहां उन्हें कार्य-संचालन तथा नियन्त्रण के क्षेत्र में बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ है तथा पूंजीपति को अपदस्थ करने की दिशा में वे एक पग आगे बढ़ गये हैं। [1]

(इस अध्याय में शिल्पी संघवाद तथा श्रेणी-समाजवाद का वर्णन सर्वत्र वर्तमानकाल में किया गया है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रो० जोड की इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था। तब से समाजवादी आन्दोलन में अनेक परिवर्त्तन हो गये हैं, जिनका इस पुस्तक में उल्लेख नहीं है। उपर्युक्त दोनों आन्दोलन अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व के

---

[1] सन् १९१९ में श्रेणी समाजवादियों ने एक भवन-निर्माण श्रेणी की स्थापना की। इसका नियंत्रण विभिन्न भवन (building) श्रमिक संघों की स्थानीय प्रबंध-कारिणी समितियों के प्रतिनिधियों के हाथ में था। श्रेणी समाजवादी सिद्धान्त पर आधारित यह प्रथम प्रयोग था। बाद में इसकी असफलता श्रेणी-विचार में निहित किसी दोष के कारण न होकर, उन कठिनाइयों के कारण हुई जो एक पूंजीवादी समाज में किसी भी समाजवादी प्रयोग के मार्ग में उपस्थित होंगी।

रह गये हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् शिल्पी-संघवाद का फ्रांस में लोप होने लगा और अन्य देशों में भी बहुत शीघ्र इसका प्रभाव क्षीण हो गया। श्रेणी समाजवादी आन्दोलन भी २०वीं शताब्दी के तृतीय दशक में समाप्त हो गया। राष्ट्रीय श्रेणी-संघ का सन् १९२५ में विसर्जन कर दिया गया था —अनुवादक)

# ५

# साम्यवाद तथा अराजकतावाद

कुछ विशेष कारणों से हम साम्यवाद तथा अराजकतावाद का एक ही अध्याय के अन्तर्गत वर्णन करेंगे। साम्यवादियों का यह कहना है कि कार्ल मार्क्स की शिक्षाओं के सच्चे उत्तराधिकारी वही हैं। परन्तु सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर अराजकतावादियों ने बाकुनिन (Bakunin) के नेतृत्व में, मार्क्स के अनुयायियों का विरोध किया। प्रथम अन्तराष्ट्रीय (First International) की चतुर्थ काँग्रेस में, जिसका अधिवेशन सन् १८६९ में बाल (Basle) में हुआ था, इन मतभेदों ने उग्र रूप धारण किया और सन् १८७२ में बाकुनिन तथा अराजकतावादियों को मार्क्सवादी अन्तराष्ट्रीय से निकाल दिया गया। दोनों पक्षों के मध्य विरोध मुख्यत: राज्य के कार्यों के प्रश्न पर था। मार्क्स के जर्मन तथा अंग्रेज अनुयायियों का, कम से कम उस समय, ऐसा विश्वास था कि समाजवादी क्रान्ति के पश्चात् भी किसी न किसी रूप में राज्य को रखना ही पड़ेगा। परन्तु इटालियन और फ्रेंच मार्क्सवादी राज्य का पूर्ण उन्मूलन चाहते थे, विशेषत: क्योंकि प्रतिनिधि शासन व्यवस्था पर उनकी किंचित भी आस्था नहीं थी। अराजकतावादियों ने तदनन्तर एक फेडरल यूनियन (Federal Union) की स्थापना की, जिसने अन्तराष्ट्रीय मार्क्सवादी परिषद् (Marxist Council of the International) से पूर्णत: सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

इन प्रारम्भिक मतभेदों के होने पर भी आधुनिक घटनाक्रम के विकास ने इन दो विचारधाराओं को घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कर दिया है। रूसी बोल्शेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण साम्यवाद विशिष्टत: पद्धति का दर्शन (philosophy of method) बन गया है, अर्थात्, यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद की ओर परिवर्तन होगा। अराजकतावाद उन सिद्धान्तों की घोषणा करता है जो

इस परिवर्त्तन के उपरान्त समाज में लागू होंगे । अराजकतावादियों का सम्बन्ध केवल एक आदर्श समाज से, जिसकी वे स्थापना करना चाहते हैं तथा एक आदर्श जीवनयापन के ढंग से है ।[1] परन्तु साम्यवादियों की मुख्य समस्या यह है कि इस आदर्श समाज की स्थापना किस प्रकार की जाय तथा जीवन का यह आदर्श ढंग किस प्रकार हरेक के लिये सम्भव बना दिया जाय। अर्थात्, साम्यवादी साधनों पर विचार करते हैं, तथा अराजकतावादी साध्यों पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अब अधिकांश साम्यवादी समाज के अराजकतावादी आदर्श को स्वीकार करते हैं और अनेक अराजकतावादी यह मानने को प्रस्तुत होंगे कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था केवल साम्यवादी कार्यक्रम द्वारा ही सम्भव है। प्रसिद्ध विचारक प्रिंस क्रोपॉतकिन "अराजकतावादी साम्यवाद" का अग्रदूत माना जाता है। समाजवादी समाज के पूर्ण विकसित रूप के सम्बन्ध में उसके विचार साम्यवादियों के विचारों के ही समान हैं। परन्तु संक्रमणकालीन अवस्था के सम्बन्ध में उनमें भेद है ।

अतएव, साम्यवाद तथा अराजकतावाद को एक ही अध्याय में रखकर हम एक ही वस्तु के दो पक्षों को साथ-साथ उपस्थित कर रहे हैं। इस अध्याय के प्रथम भाग में हम साम्यवाद, अर्थात् उस 'पद्धति के दर्शन' का वर्णन करेंगे जो उस प्रकार के समाज की स्थापना का प्रयत्न करता है, जो इस अध्याय के दूसरे भाग की विषय-वस्तु है ।

**साम्यवाद :**

साम्यवाद अनेकार्थवाची शब्द है। कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग, आरम्भिक ईसाइयों की भांति, समाज के ऐसे सिद्धान्त के अर्थ में किया जाता है जिसमें सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार हो। अन्य स्थलों पर साम्यवाद

---

(१) रूस में पहले शून्यवादी (Nihilist) अराजकतावादियों का एक दल था, जो साध्यों के बजाय साधनों पर ही बल देता था, लेकिन राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से इसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

शब्द का प्रयोग समाजवाद के पर्याय के रूप में किया जाता है। इसका अर्थ ऐसी व्यवस्था से भी लिया जाता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकतानुसार भोजन, वस्त्र, चिकित्सा की सुविधाएं तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएं निःशुल्क दी जाती हैं। परन्तु प्रस्तुत अध्याय में हम इस शब्द का प्रयोग उसी विशिष्ट अर्थ में करेंगे जिस अर्थ में इसका प्रयोग मार्क्स तथा एंगिल्स द्वारा सन् १८४७ में प्रकाशित "साम्यवादी घोषणापत्र" (*Communist Manifesto*) में किया गया था। केवल इसी अर्थ में 'साम्यवाद' शब्द, अन्य समाजवादी विचारधाराओं से भिन्न एक अलग राजनीतिक सिद्धान्त का बोध कराता है।

इस अर्थ में साम्यवाद मूलतः एक पद्धति का दर्शन है। यह उन सैद्धान्तिक तत्त्वों का निरूपण करता है जिनके आधार पर पूंजीवादी समाज को समाजवादी समाज में परिवर्त्तित किया जायगा। इसके दो मूलतत्त्व हैं—वर्ग-युद्ध तथा क्रान्ति द्वारा, अर्थात् बल प्रयोग द्वारा, सर्वहारा वर्ग को शक्ति का हस्तान्तरण।

**(क) मार्क्सवादी साम्यवाद :** मार्क्स के दर्शन के मूल सिद्धान्तों पर तीसरे अध्याय में संक्षेप में विचार किया जा चुका है। परन्तु साम्यवाद के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन करने के लिये यह आवश्यक है कि उनका सार पुनः प्रस्तुत किया जाय तथा उनके कुछ अंशों पर विस्तारपूर्वक फिर से विचार किया जाय।

मार्क्स का मत था कि पूंजीवाद के स्वभावगत् आत्मविरोधों के कारण पूंजीवादी युग स्वयं ही समाप्त हो जायगा। इन आत्मविरोधों में निम्नोक्त सबसे महत्त्वपूर्ण हैं: प्रथम, अतिरिक्त अर्घ प्राप्त करने के लिये, जिस पर यह जीवित रहता है, पूंजीवाद एक वर्गचेतन सर्वहारा को जन्म देने तथा उसका संकेन्द्रण करने को बाध्य हो जाता है। यह नवीन वर्ग अपना संगठन इस प्रकार करता है कि पूंजीवाद पर, जिसने इसे जन्म दिया है, विजय प्राप्त कर सके। द्वितीय, इस युग में यद्यपि उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है तथापि अधिकांश जनता सम्पत्तिहीन है और जब तक पूंजीवाद रहेगा यही अवस्था बनी रहेगी, क्योंकि सर्वहारा वर्ग में औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादित वस्तुओं को

खरीदने की सामर्थ्य नहीं होती, और उत्पादन निरन्तर बढ़ता ही जाता है, इसलिये उत्पादन तथा घरेलू उपभोग के मध्य बढ़ती हुई खाई से विवश होकर पूँजीपति देश के बाहर बाज़ार ढूँढ़ते हैं और बड़े-बड़े ट्रस्टों (trusts) का निर्माण करते हैं, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में छोटे-छोटे पूँजीपतियों का नाश होता जाता है और उत्पादन एकाधिकारी (monopolistic) हो जाता है। ज्यों ज्यों उत्पादन बढ़ता जाता है, समुद्रपार बाज़ारों के लिये प्रतिद्वन्द्विता उग्रतर होती जाती है; अन्नुनत क्षेत्रों के शोषण और अनुयोजन के लिये पूँजीवादी देश टूटे पड़ते हैं और पूँजीवाद साम्राज्यवाद तथा विश्व-युद्ध की अवस्थाओं से बढ़ता हुआ अपने शिखर पर पहुंच जाता है।

हाल के वर्षों की घटनाएं, आधुनिक साम्यवादियों के अनुसार, मार्क्स की भविष्यवाणियों की सत्यता को आश्चर्यजनक रूप से प्रमाणित करती हैं। इन घटनाओं की व्याख्या वे निम्नोक्त प्रकार से करते हैं। विश्व-युद्ध की उत्पत्ति आर्थिक है। उत्पादन की शक्तियों ने वर्त्तमान सामाजिक संगठन का उल्लंघन कर दिया था, परिणामस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन इस गति से होने लगा कि समाज उनके उपभोग पर नियन्त्रण नहीं कर पाया। इस कारण सम्पत्तिहीन श्रमिकों के जगत में अकर्मण्य धनिक वर्ग की शान-शौकत का अशिष्ट प्रदर्शन बढ़ा तथा नये बाज़ारों के लिये प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती गयी, और इसी ने साम्राज्यवाद के भेष में, युद्ध को अनिवार्य कर दिया। उदाहरणार्थ, लेनिन (Lenin) साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार करता है, यह "पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें एकाधिकारों तथा वित्तीय पूँजी का प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है, पूँजी का निर्यात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है, अन्तरराष्ट्रीय ट्रस्ट (trust) संसार का विभाजन आरम्भ कर देते हैं और महान् पूँजीपति देश संसार के समस्त प्रदेशों को आपस में बांट लेते हैं।" इस अवस्था में अपने आन्तरिक विरोधों के कारण पूँजीवाद के नाश का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। पूँजीवाद द्वारा पैदा किया गया सर्वहारा वर्ग ही वह शक्ति है, जो अपने पैदा करनेवाले का नाश करेगा। इस वर्ग के सदस्यों की

संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है और इसकी मांगों का आग्रह भी बढ़ता जाता है। अन्त में यह इससे कम किसी भी बात पर सन्तुष्ट नहीं होता कि शोषकों का निस्वाम्यकरण कर दिया जाय, सम्पत्ति पर जिस पर अभी तक व्यक्तिगत अधिकार था समाज का अधिकार हो, तथा सत्ता संघर्षशील श्रमिकों को हस्तान्तरित हो जाय।

सर्वहारा क्रान्ति के सदृश्य इतिहास में अन्य क्रान्तियां हो चुकी हैं। वास्तव में, प्रत्येक वर्ग जो किसी न किसी समय समाज में सत्तारूढ़ रहा है, ऐसे विरोधी वर्ग के द्वारा ही अपदस्थ किया गया है तथा नष्ट हुआ है, जो उसकी प्रभुताजन्य परिस्थितियों के कारण ही अस्तित्व में आया था। उदाहरणार्थ, सामन्तवाद ने जिस मध्यवर्ग को उत्पन्न किया, उसी ने उद्योग का प्रसार तथा वाणिज्य का विस्तार कर, सामन्तवाद का अन्त कर दिया। यद्यपि इतिहास में सर्वहारा-क्रान्ति के सदृश्य अन्य क्रान्तियों के उदाहरण मिलते हैं, तथापि एक अर्थ में यह अभूतपूर्व है। पूर्ववर्त्ती समस्त क्रान्तियों में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन किया गया तथा एक अल्पसंख्यक वर्ग के हाथ से दूसरे अल्पसंख्यक वर्ग के हाथ में सत्ता हस्तान्तरित हुई, परन्तु श्रमिक वर्ग की विजय का अर्थ मानवता की मुक्ति होगा। यद्यपि यह क्रान्ति एक वर्ग-विशेष द्वारा सम्पन्न होगी तथापि इसके पश्चात् स्थापित होनेवाली सामाजिक व्यवस्था वर्ग-विहीन होगी। इस प्रकार साम्यवादियों का यह कहना है कि जिस संग्राम में वे रत हैं, वह बाह्य दृष्टि से भले ही केवल सम्पत्तिहीन वर्ग के हित में प्रतीत होता हो, तथापि वस्तुतः समस्त मानवता का संग्राम है। उनका यही विश्वास, जिसका आधार एक निस्पृह आदर्श है, उनमें आत्मबलिदान और आत्म-त्याग की वह शक्ति उत्पन्न करता है जो उनके बाह्य रूप से शुष्क तथा सिद्धान्तवादी कार्यक्रम में निहित है।

यद्यपि साम्यवादियों का चरम-लक्ष्य मानवता की मुक्ति तथा वर्गों का नाश है, तथापि उनके अनुसार इसकी प्राप्ति अनेक वर्षों तक सम्भव नहीं है। सर्वहारा की क्रान्ति इस काल्पनिक आदर्श (Utopia) के लिये मार्ग

प्रशस्त करती है, परन्तु विस्मयजनक रीति से यह तुरन्त उसकी स्थापना नहीं कर सकती। इस प्रकार हम स्पष्टतः देखते हैं कि क्रान्ति की प्रगति में दो अवस्थाएं हैं। मार्क्स में यह विचार मिलता है और उसके अनुयायियों ने इसे अंगीकार कर लिया। पहली संक्रमणकालीन अवस्था है, अर्थात् एक क्रान्तिकारी अवस्था जिसमें राज्य पर श्रमिक वर्ग का प्रभुत्व होगा। दूसरी अवस्था साम्यवादी वर्ग-हीन सामाजिक अवस्था है, जिसमें राज्य का प्रभु-सत्ता के रूप में लोप हो जायगा। इन दोनों अवस्थाओं पर अलग-अलग विचार करना सुविधाजनक होगा।

(१) **क्रान्तिकारी अवस्था :** तृतीय अध्याय में वर्णित विकासवादी समाजवादियों के सिद्धान्तों से साम्यवादी मुख्यतः सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनका यह निश्चित मत है कि समाज के ढांचे में, बिना राज्य में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किये कोई आधारभूत परिवर्त्तन नहीं हो सकता। अतीत के, विशेषतः १८७१ की पेरिस कम्यून (Paris Commune of 1871) के अनुभव ने उनको यह सिखला दिया है कि श्रमिक-वर्ग, वर्त्तमान पूँजीवादी राज्य व्यवस्था को सरलतापूर्वक हस्तगत कर, अपने उद्देश्यों के लिये प्रयोग नहीं कर सकता। राज्य का वर्त्तमान संगठन क्रान्तिकारी उद्देश्य के लिये मूलतः अनुपयुक्त है, इसके कर्मचारी अविश्वसनीय हैं, इसकी कार्य-रीति अप्रभावी है, और इसकी प्रकृति ऐसी नहीं है कि केवल स्वामियों के बदलने से ही वह बदल जाय। अतः जब तक पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी है, तब तक किसी श्रमिक दल द्वारा राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर लेने मात्र से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि इस स्वामित्व के कारण पूँजीपति सदा ऐसी व्यवस्था करने में सफल होंगे कि संविधानिक श्रमिक दल द्वारा नियन्त्रित संसद, केवल ऐसा ही विधान पारित करे जिससे उनकी औद्योगिक सत्ता पर आंच न आये। यदि ऐसा दल पूँजीपतियों के निस्वाम्यकरण तथा उनकी सम्पत्ति को समाज को हस्तान्तरित करने के लिये विधान पारित करता है तो वे उसके विनियमों से बचने का भरसक प्रयत्न करेंगे और अन्त में अपने विशेषाधिकारों के लिये लड़ेंगे। साम्यवादियों के अनुसार

ग्रेट ब्रिटेन में श्रमिक दल की शक्ति वृद्धि परन्तु पूंजीपतियों पर कोई भी प्रभाव डालने में उसकी असफलता, इस धारणा की पुष्टि करते हैं।

अतएव यह कहा जाता है कि संविधानिक उपचारों का परित्याग, वर्त्तमान राज्य-यन्त्र का अवक्रमण तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की घोषणा कर देनी चाहिये। वर्त्तमान साम्यवादियों ने निस्संकोच इस बात पर बल दिया है कि पूंजीपतियों को अपदस्थ करने के लिये उग्र तथा कठोर संघर्ष करना होगा। न केवल पूंजीपतियों को अधिकारच्युत करने के लिये, परन्तु उनको पुनर्प्रतिष्ठापित करने के लिये किये जाने वाले क्रान्ति विरोधी षड़यन्त्रों के विरुद्ध भी, श्रमिकों को सशस्त्र हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। जैसा एंगिल्स ने कहा है, "जो दल क्रान्ति में विजयी होगा उसे अनिवार्यत: शस्त्र बल का भय दिखलाकर प्रतिक्रियावादियों को नियन्त्रण में रखते हुए अपना शासन बनाये रखने की व्यवस्था करनी होगी। यदि पेरिस कम्यून का अस्तित्व मध्यवर्ग (bourgeoisie) के विरुद्ध सशस्त्र जनता की शक्ति पर आधारित न होता, तो क्या वह चौबीस घण्टे से अधिक जीवित रह सकता ?"

इस सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर भी इंगित किया जाता है कि मध्य-वर्ग को उच्च शिक्षा, अनुशासन तथा सैनिक योग्यता, इन सभी के लाभ प्राप्त हैं। उसके पास युद्ध के लिये सैनिक हैं और उन्हें शस्त्रों से सज्जित करने के लिये धन। अतएव यह आशा नहीं करनी चाहिये कि यदि किसी आकस्मिक क्रान्ति द्वारा उनकी सत्ता हस्तगत कर ली जाय तो वे अपनी सुविधाओं का लाभ नहीं उठावेंगे।

लेनिन के कथनानुसार, "प्रत्येक गम्भीर क्रान्ति में, यह एक सामान्य नियम है कि शोषक वर्ग जो शोषितों की अपेक्षा आगामी कई वर्षों तक एक लाभजनक स्थिति में रहेगा, दीर्घकाल तक तीव्र तथा उग्र रूप से इसका विरोध करेगा। यह निश्चय है कि शोषक कभी भी बिना एक अन्तिम तीव्र युद्ध या युद्धों के शोषित बहुमत के सम्मुख अपना मस्तक नत नहीं करेंगे।" एतदर्थ, "पूंजीवाद से साम्यवाद को परिवर्त्तन एक पूर्ण ऐतिहासिक युग का आकार धारण करता है।"

इस संक्रमण-काल में मध्यवर्गीय राज्य के स्थान पर लेनिन के शब्दों में श्रमिकों के "आभास-राज्य" ( quasi-state ) की स्थापना होगी। यह नया राज्य अनिवार्यतः एक वर्ग संगठन होगा, परन्तु यह क्रान्तिकारी श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करेगा। "श्रमिक मध्यवर्ग के विरोध का अन्त करने के लिये" मार्क्स कहता है, "राज्य को एक क्रान्तिकारी तथा अस्थायी रूप में स्थापित करते हैं।" फलस्वरूप इस काल में राज्य दमनात्मक तथा स्वेच्छाचारी होगा। इसकी शक्ति अपरिहार्य होगी तथा यह पूर्णतः प्रजातान्त्रिक नहीं होगा, अर्थात् यह राज्यान्तर्गत सब दलों का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा। इसके प्रतिकूल यह केवल सर्वहारा दल का प्रतिनिधि होगा तथा इस दल के द्वारा मध्यवर्ग का दमन करने के लिये इसका प्रयोग किया जायगा।

एंगिल्स के शब्दों में, "क्योंकि राज्य केवल एक अस्थायी संस्था है, जिसका कि क्रान्ति में, विरोधियों का बलपूर्वक दमन करने के लिये प्रयोग किया जाता है, अतएव एक स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की चर्चा करना नितान्त निरर्थक है। सर्वहारा वर्ग को राज्य की आवश्यकता स्वतन्त्रता के लिये नहीं प्रत्युत अपने विरोधियों के दमन के लिये होती है। जिस अवस्था में स्वतन्त्रता सम्भव होगी उस समय राज्य के अस्तित्व का लोप हो जायगा।"

साम्यवादी आन्दोलन किस सीमा तक प्रजातान्त्रिक है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, इसीलिये उपर्युक्त उद्धरण दिये गये हैं। इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहां केवल इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि जहां तक संक्रमणकालीन क्रान्तिकारी काल का सम्बन्ध है, सामान्यतः मान्य अर्थ में प्रजातन्त्र न तो व्यावहारिक ही माना गया है और न वांछनीय ही।

२. **क्रान्ति के पश्चात् की अवस्था :** मध्यवर्ग के दमन करने में राज्य अपना अन्त स्वयं बुलाता है, क्योंकि जितना अधिक इस उद्देश्य में यह सफल होता जायगा, उतना ही यह अनावश्यक होता जायगा। यह एक वर्ग-मूलक संगठन है जिसका उद्देश्य एक वर्ग विशेष का हित-साधन होता है, अतएव वर्ग-भेद का अन्त होते ही इसके अस्तित्व का भी कोई औचित्य नहीं रह जाता है। इसलिये

लेनिन के शब्दों में, राज्य का "लोप हो जायगा" तथा सार्वजनिक कार्य सम्पन्न करने के लिये इसका स्थान स्वैच्छिक संवासों का एक स्वतन्त्र समाज ग्रहण कर लेगा। इस समाज का आविर्भाव ही इस तथ्य का प्रमाण होगा कि क्रान्ति का युग समाप्त हो गया है। यही वह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था होगी जो अराजकतावादी का लक्ष्य है। इस पर हम इस अध्याय के उत्तरार्ध में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

**(ख) साम्यवादी सिद्धान्त का नवीनतम विकास :** उपर्युक्त विवरण मार्क्स के सिद्धान्तों के उन पक्षों का संक्षिप्त वर्णन है जिन पर आधुनिक साम्यवादियों ने बल दिया है तथा जिन्हें विकसित किया है। तृतीय अध्याय में विकासवादी या समष्टिवादी समाजवाद पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या एक भिन्न ढंग से भी की जा सकती है। हाल की कुछ घटनाओं ने, विशेषकर सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति ने, साम्यवाद को व्यावहारिक महत्त्व देने के अतिरिक्त स्वाभाविकत: इसके सैद्धान्तिक पक्ष को भी विकसित किया है। इस नवीन विकास द्वारा मार्क्स की शिक्षाओं का खण्डन नहीं किया गया है, अपितु उसके सिद्धान्त के कुछ पक्षों पर अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक बल दिया गया है। यह कह सकते हैं कि रूसी साम्यवाद ने मार्क्स के सिद्धान्त को, बिना इसके सार को छोड़े, एक नवीन ढंग से मोड़ दिया है। इसके फलस्वरूप साम्यवादी अब पहले की अपेक्षा प्रजातन्त्र के प्रश्न पर अधिक ध्यान देने लगे हैं। लेनिन की अधिकांश रचनाएं, विशेषत: कॉट्स्की (Kautsky)[१] को दिया गया प्रसिद्ध उत्तर, इसी प्रश्न से सम्बन्धित है कि साम्यवाद किसी सीमा तक तथा किन अर्थों में प्रजातान्त्रिक है।

---

(१) कॉट्स्की की पुस्तिका "सर्वहारा का अधिनायकत्व" (*The Dictatorship of the Proletariat*) सन् १९१९ में वियना में प्रकाशित हुई थी। इस में रूस में व्यवहृत साम्यवादी सिद्धान्तों और पद्धतियों की तीव्र आलोचना की गई थी। इस आलोचना का मुख्य आधार यह था कि रूसी मार्क्स के सच्चे सिद्धान्तों से पथभ्रष्ट हो गए हैं।

यह जानने के लिये कि इस प्रश्न को इतना अधिक महत्त्व किस प्रकार प्राप्त हुआ, हमें जरा पीछे मुड़कर, संक्षेप में गत पचास वर्षों के साम्यवादी आन्दोलन पर दृष्टिपात करना होगा। द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय (Second International), जिसकी स्थापना सन् १८८९ में हुई थी, यद्यपि मूलत: विशुद्ध मार्क्सवाद पर आधारित थी, तथापि समस्त मार्क्सवादी संस्थाओं में, यह सबसे कम क्रान्तिकारी थी। यह सत्य है कि उक्त संस्था का विधान, प्रथम अन्तरराष्ट्रीय की अपेक्षा श्रमिकों के मध्य एक उच्चतर कोटि का संगठन सूचित करता है। १९वीं शताब्दी के अन्तिम तीस वर्ष तथा २०वीं शताब्दी के प्रथम दशक में श्रमिक संगठनों की संख्या तथा शक्ति दोनों में ही वृद्धि हुई थी।

परन्तु संगठन की वृद्धि के साथ-साथ क्रान्तिकारी उत्साह का ह्रास होता गया। वह शान्ति का युग था, जिसमें औद्योगिक विकास हुआ तथा अपेक्षाकृत समृद्धि थी। इस कारण पूँजीपति वर्ग से सुविधाएं इतनी सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाती थीं कि मार्क्स की भविष्यवाणियों में लोगों को अत्यधिक निराशावादिता दिखलायी देने लगी; और यह आशा होने लगी थी कि समाजवाद की स्थापना शनैः शनैः शान्तिपूर्ण उपायों से हो जायगी। अर्थात्, श्रमिक वर्ग मत-शक्ति से इसकी स्थापना करेगा। परन्तु ये सब आशाएं स्वप्न-मात्र थीं।

प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व भी, मार्क्स के सिद्धान्तों की संघर्षशील व्याख्या पर आधारित शिल्पी संघवादी आन्दोलन का जन्म हो चुका था। इस युद्ध ने क्रान्तिकारी, अन्तरराष्ट्रीय समाजवाद को सक्रिय एवं विकासशील शक्ति के रूप में पुन: एक बार व्यावहारिक क्षेत्र में ला खड़ा किया। युद्ध ने क्रान्तिवादी समाजवादियों की कई प्रकार से सहायता की। सबसे बड़ी सहायता उसने यह की कि क्रान्तिवादी और विकासवादी समाजवादियों को एक-दूसरे से इस प्रकार अलग कर दिया कि अब यह संदिग्ध है कि समाजवाद के ये दो पक्ष भविष्य में कभी भी पुन: एक ही आन्दोलन के अंग बन सकेंगे।[1] युद्ध ने

(१) अभी तक जितने भी प्रयत्न इस दिशा में हुए हैं वे सभी असफल रहे हैं। —अनुवादक

लोगों को वर्गभक्ति या देशभक्ति इन दो में से किसी एक का चयन करने के लिये विवश कर दिया। एक समय चयन कर लेने पर, घटनाओं ने उनके लिये यह अधिकाधिक दुस्तर कर दिया कि इस सम्बन्ध में वे अपना निश्चय बदल सकें।

यद्यपि समाजवाद राज्य के प्रति अविश्वास सिखलाता है, तथापि जो समाजवादी राष्ट्रभक्ति की धारा में बह गये थे वे राष्ट्रीय सरकारों के अधिकाधिक सम्पर्क में आते चले गये, और उन्होंने अपने देश के श्रमिकों को उन अन्य देशों के श्रमिकों की हत्या करने के लिये, सेना में भर्त्ती होने को प्रोत्साहित किया, जिन्हें अन्तरराष्ट्रीय (International) ने अपना भाई समझने की शिक्षा दी थी। कुछ समाजवादी तो मध्यवर्गीय सरकारों के मन्त्रिपदों पर भी आसीन हो गये।

जिन समाजवादियों ने वर्ग के प्रति भक्ति बनाये रखी, उन्हें घटनाचक्र बिल्कुल ही विपरीत दिशा में ले गया। विभिन्न युद्धरत राष्ट्रों द्वारा उनको यन्त्रणाएं दी गईं तथा बन्दी बनाया गया क्योंकि वे उन राष्ट्रों की प्रतिरक्षा के लिये प्रस्तुत नहीं थे जिनमें से प्रत्येक अपने को अक्षम्य आक्रमण का शिकार समझता था। इसके फलस्वरूप ऐसे समाजवादी राज्य-धारणा के ही विरोधी हो गये। युद्धकाल में नागरिक राज्य की रक्षा करना केवल इसी रीति से अस्वीकार कर सकता है कि या तो वह उसकी सत्ता को अस्वीकार कर दे या राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था के प्रति अपनी भक्ति घोषित कर दे। क्रान्तिकारी समाजवादियों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया। विश्व-युद्ध के रूप में मार्क्स की भविष्यवाणी को सच्चा उतरता देख उन्होंने संघर्षरत श्रमिक आन्दोलन के साथ रहने का निश्चय किया, राष्ट्रीय विभाजनों को अस्वीकार किया तथा तृतीय अन्तरराष्ट्रीय की सदस्यता स्वीकार करली। सन् १९१७ की क्रान्ति में सत्ता ग्रहण कर लेने के पश्चात् विजयी मार्क्सवादियों ने सन् १९१९ में तृतीय अन्तरराष्ट्रीय की मॉस्को में स्थापना की थी। इसने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि एक ऐसे घोषणा पत्र की रचना तथा प्रकाशन

किया जिसमें क्रान्तिकारी साम्यवाद के सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति की गयी थी। मूलत: ये वही थे जिनको मार्क्स तथा एंगिल्स ने निरूपित किया था और जिनके विषय में हम बतला चुके हैं। परन्तु एक नवीन विशेषता यह थी कि इस घोषणापत्र में संघर्षशील साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र की सामान्य धारणा के मध्य अनिवार्य अन्तरों पर बल दिया गया था।

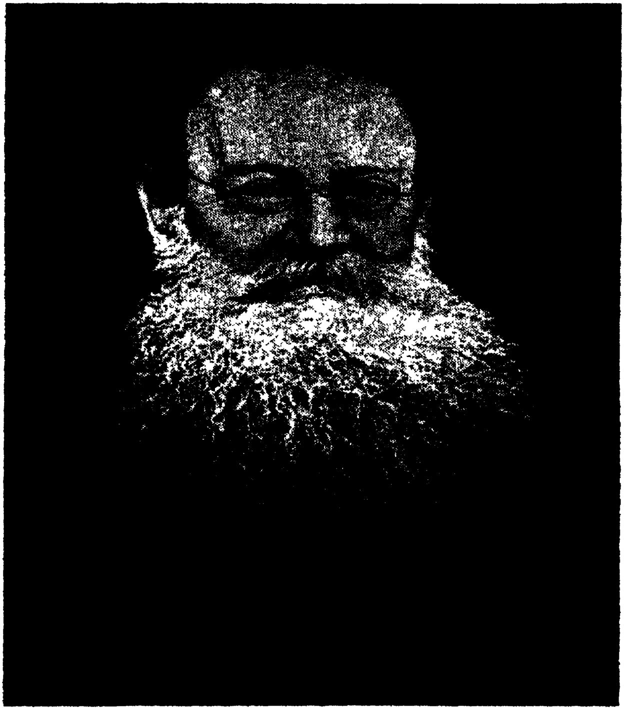
**साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र :** इस प्रश्न पर विचार करते समय निम्नोक्त तीन अवस्थाओं के मध्य तीव्र भेदों को सदा ध्यान में रखना चाहिये—पूंजीवादी समाज, संक्रमणकालीन क्रान्तिकारी राज्य तथा अन्त में स्थापित होनेवाली साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था। पूंजीवादी समाज के सम्बन्ध में, साम्यवादियों का प्रजातन्त्र के विरुद्ध रुख, इसके प्रति अविश्वास या बहुमत शासन के प्रति अरुचि पर उतना आधारित नहीं है, जितना इस विश्वास पर कि वर्त्तमान अवस्थाओं के अन्तर्गत प्रजातान्त्रिक व्यवस्था न तो सम्भव है और न सम्भव हो सकती है। जब तक जनता का अधिकांश भाग सम्पत्तिहीन है तब तक वैयक्तिक स्वतन्त्रता अथवा व्यक्तियों की अपने समाज की व्यवस्था निश्चित करने की शक्ति के सम्बन्ध में, बात करना अर्थहीन है। व्यक्ति के लिये ऐसी अवस्था में कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, क्योंकि उसके पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है कि वह अपनी श्रम-शक्ति सबसे ऊँची कीमत देनेवाले व्यक्ति को बेंच दे। इसलिये वह स्वतन्त्रतापूर्वक यह निश्चय नहीं कर सकता कि वह किस प्रकार जीवन व्यतीत करेगा। जहां तक शासन-यन्त्र का सम्बन्ध है, उसका रूप चाहे कितना ही प्रजातान्त्रिक क्यों न हो, समाज में सत्ता सरकार के हाथ में नहीं अपितु सदैव उन लोगों के हाथों में रहेगी, जिनके पास औद्योगिक उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण आर्थिक शक्ति है।

क्योंकि अब श्रमिक नाम-मात्र की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं इससे ही वे अपने शोषकों के समान-स्तर पर नहीं आ जाते। वास्तव में उनकी स्थिति इस कारण और बिगड़ गई है; इस अर्ध-शिक्षित सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व के कारण शोषक उन्हें और अधिक दृढ़ता से शृङ्खलाबद्ध कर सकते हैं। शिक्षा, समाचारपत्रों,

सभा स्थलों आदि सभी पर पूंजीपतियों का ही नियन्त्रण रहता है और इन साधनों का प्रयोग वे श्रमिकों के मस्तिष्क को 'निष्क्रिय' करने के लिये करते हैं। इससे श्रमिक और भी अधिक सरलता से पूंजीपतियों के प्रभाव में आ जाते हैं। इसलिये जब कि प्रचार के समस्त साधनों पर पूंजीपतियों का स्वामित्व हो, सब श्रमिकों को अपने पक्ष में मिला लेने की आशा व्यर्थ है। यह दशा उस समय तक बनी रहेगी जब तक वैसी स्थिति न उत्पन्न हो जाय, जैसी प्रथम विश्व युद्ध के कारण रूस में उत्पन्न हो गई थी, जब वर्ग-चेतन अल्पसंख्यक यह अनुभव करने लगें कि वे बहुसंख्यकों के समर्थन की आशा करते हुए कारवाही कर सकते हैं। पूंजीवादी युग को समाप्त करने के लिये साम्यवादी ऐसी ही स्थिति की प्रतीक्षा करते हैं। उनका यह विचार है कि इस बीच में मध्यवर्गीय प्रजातन्त्र की आशा निरर्थक है; अर्थात् ऐसे प्रजातन्त्र से जो कि मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से अभिभूत हो यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि वह इस वर्ग का दमन करेगा।

जहां तक संक्रमणकालीन अर्थात् सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था का सम्बन्ध है, उसकी बात कुछ दूसरी है। क्योंकि यह अवस्था तभी तक रहेगी जब तक श्रमिकों की इच्छा होगी, इस अर्थ में यह प्रजातान्त्रिक है। परन्तु इसे समस्त जनता का समर्थन प्राप्त नहीं होगा, इस अर्थ में यह प्रजातान्त्रिक नहीं है। शोषितों का प्रजातन्त्र शोषकों की इच्छा की अभिव्यक्ति उसी प्रकार नहीं कर सकता है, जिस प्रकार वर्त्तमान शोषकों का प्रजातन्त्र शोषितों की यथार्थ इच्छा की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है।

एतदर्थ, क्रान्तिकाल के पूर्व यथार्थ प्रजातन्त्र प्रवर्ती नहीं हो सकता तथा क्रान्तिकाल में यह अव्यावहारिक घोषित कर दिया गया है। पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में सफलता के लिये साम्यवादी सार्वभौमिक स्वीकृति की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों के सुदृढ़ निश्चय तथा उनकी संकल्प शक्ति पर निर्भर रहते हैं। अन्य समाजवादियों के विपरीत साम्यवादियों की यह दृढ़ धारणा है कि पूंजीवाद से संघर्ष अनिवार्य है और यह संघर्ष हिंसात्मक तथा दीर्घकालीन होगा। यद्यपि यह दृष्टिकोण बहुतों को अत्यन्त विषादपूर्ण एवं निराशावादी लग सकता है, तथापि



प्रिंस क्रोपॉतकिन

साम्यवादी यह नहीं मानते कि उनकी नीति अनिवार्यतः नैराश्य की नीति है। इसके विपरीत उनका मत है कि इस जर्जर संसार की एकमात्र आशा क्रान्तिकारी साम्यवाद ही है। यदि पूँजीवाद का नाश नहीं किया जाता तो इससे उत्पन्न सङ्कट सभ्यता को दुलमलि से नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। युद्ध के बाद युद्ध होंगे, दुर्भिक्षों के उपरान्त महामारियां फैलेंगी और यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक अनियन्त्रित पूँजीवाद की विध्वंसकारी शक्तियां समस्त समाज को समाप्त नहीं कर देतीं। हर नया युद्ध शान्तिपूर्ण समाजवाद तथा उदारवाद द्वारा प्राप्त की गई सब छोटी-छोटी सफलताओं को समाप्त कर देता है; भय के क्षणों में इन्हें ताक पर रख दिया जाता है और उनका स्थान नग्न तथा लज्जाहीन प्रतिक्रिया ग्रहण कर लेती है। इसलिये यदि संसार की इस पूँजीवादी सभ्यता के दोषों से रक्षा करनी है, जिसकी सामाजिक विकास में कोई उपयोगिता शेष नहीं रह गयी है, तो मुक्ति केवल ऐसे शक्तिशाली और दृढ़प्रतिज्ञ क्रान्तिकारी दल द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जिसने उपयुक्त अवसर आते ही पूँजीवाद को उलट देने का कठोर निश्चय कर लिया हो तथा जिसे यह भी ज्ञान हो कि रिक्त स्थान की पूर्त्ति किस प्रकार की जायगी।

**(२) अराजकतावाद :**

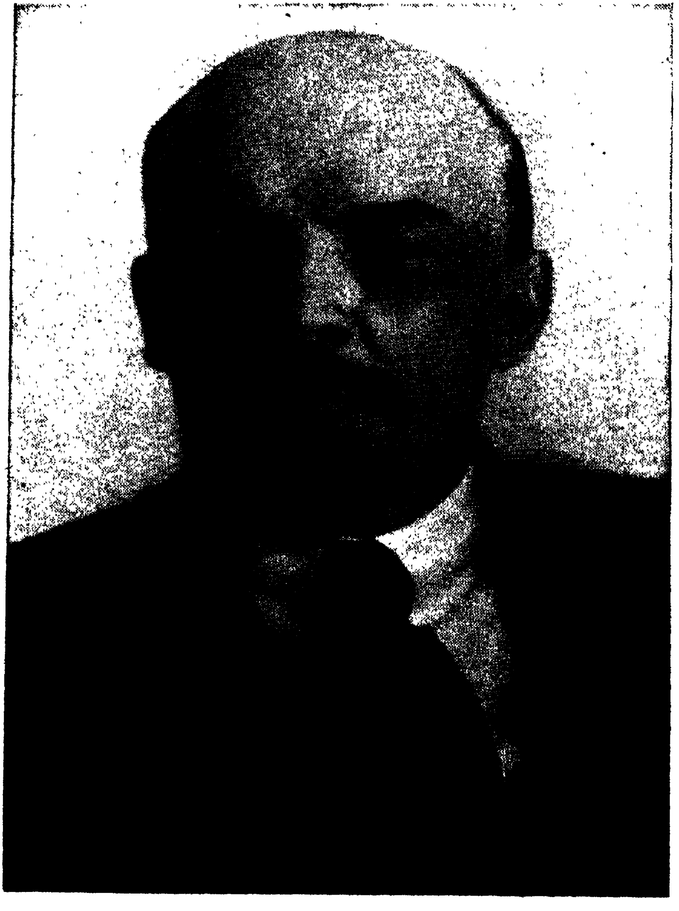
लेनिन का यह विचार था और इससे सभी साम्यवादी सहमत हैं कि सर्वहारा के अधिनायकत्व का उद्देश्य प्राप्त हो जाने पर, राज्य-यन्त्र का उन्मूलन कर दिया जायगा।

श्रमिकों की शक्ति पर आधारित 'आभास-राज्य' कालान्तर में "विलुप्त हो जायगा" और इसके स्थान पर समाज का "स्वतन्त्र संगठन" स्थापित होगा। अराजकतावाद समाज के इसी "स्वतन्त्र संगठन का समर्थक है। क्रोपॉतकिन (Kropotkin) ने, जो अराजकतावाद का मुख्य साहित्यिक व्याख्याता है, निम्नोक्त शब्दों में समाज के 'स्वतन्त्र संगठन' का वर्णन किया है, यह "जीवन तथा आचरण का ऐसा सिद्धान्त अथवा नियम है जिसमें शासन-विहीन समाज की कल्पना की जाती है—ऐसे समाज में सामंजस्य न तो विधि के समक्ष आत्म-

समर्पण कर और न किसी अन्य शक्ति का आज्ञापालन कर प्राप्त किया जाता है, अपितु वह उन विभिन्न प्रादेशिक और व्यावसायिक समूहों के मध्य किये गये स्वतन्त्र संविदाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिनकी रचना स्वतन्त्र रूप से उत्पादन और उपभोग के लिये, तथा सभ्य-जीवन की अनन्त इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये की जाती है।"

अराजकतावाद ने इस प्रश्न पर कुछ अधिक नहीं कहता है कि इस प्रकार के समाज की स्थापना किस प्रकार होगी। क्रोपाँतकिन के अनुसार समाज की अराजकतावादी धारणा एक अव्यावहारिक स्वप्न-मात्र नहीं है, अपितु आज के सामुदायिक-जीवन में वर्त्तमान तथा विकासशील प्रवृत्तियों से ही यह उद्‌भूत हुई है। इस कथन के समर्थन में वह हमारा ध्यान इन तथ्यों की ओर आकर्षित करता है कि आज यन्त्रों के विकास के कारण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो सकती है तथा ऐसे संवासों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जिनका उद्देश्य राजनीतिक नहीं है। यद्यपि ये तथ्य असंदिग्ध हैं तथापि यह विवादास्पद है कि वे पूर्णतः उसी दिशा में संकेत करते हैं जैसा क्रोपाँतकिन सोचता है। अर्थात्, यह सन्देहास्पद है कि समाज अपने विकास की स्वाभाविक गति द्वारा, बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के, अराजकतावादी रूप धारण कर लेगा। अधिकाधिक केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समाज में सत्ता-विरोधी तथा कार्यों के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखलाई देती है। हम द्वितीय अध्याय में यह देख चुके हैं। यह प्रवृत्ति उस स्थानीयता (localism) के अनुरूप ही है जो अराजकतावाद की मुख्य विशेषता है और यह स्पष्टतः मार्क्सवादी साम्यवाद के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के पूर्णतः विरुद्ध है।

प्रस्तुत अध्याय में हम अराजकतावाद का एक आदर्श के रूप में ही अध्ययन करेंगे तथा यह जिज्ञासा नहीं करेंगे कि यह आदर्श किस प्रकार प्राप्त किया जायगा। इस प्रश्न का उत्तर साम्यवाद देता है और इससे अधिकांश अराजकतावादी सहमत हैं।



लेनिन

अराजकतावादियों के अनुसार केवल राज्यहीन समाज में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व तथा प्रतिभा का पूर्ण विकास कर सकेगा। बाह्य प्रतिबन्धों के पूर्ण-रूपेण अनुपस्थित होने से ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव है। अराजकतावादी समाज में व्यक्ति पहली बार यथार्थतः स्वतन्त्र होगा। यदि हम यह पूछें कि वह किससे स्वतन्त्र होगा, तो यह उत्तर मिलेगा कि "सब प्रकार की सत्ता से।" यदि हम उन सब शक्तियों की विवरणावली तैयार करलें जिनसे अराजकतावाद व्यक्ति को स्वतन्त्र करना चाहता है तथा उन कारणों को जान लें कि क्यों यह व्यक्ति के लिये इस प्रकार की स्वतन्त्रता चाहता है तो हम इसके स्वभाव के विषय में समझ जायेंगे।

अराजकतावाद जिन सत्ता-स्रोतों से व्यक्ति को मुक्त करायेगा उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है:

(१) यह मनुष्य को उत्पादक के रूप में पूंजीपति के दासत्व से मुक्त करेगा।

(२) यह मनुष्य को नागरिक के रूप में राज्य के दासत्व से मुक्त करेगा।

(३) यह मनुष्य को व्यक्ति के रूप में उस धार्मिक नैतिकता के बन्धनों से मुक्त कर देगा जो सर्वसत्ताशाली ईश्वर जैसे कल्पित, आध्यात्मिक तत्त्वों पर आधारित है।

अराजकतावाद का यह तृतीय पक्ष नैतिक प्रश्नों से सम्बन्धित है, जो इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर हैं। जहां तक प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है, यह पूंजीवाद की आर्थिक तथा नैतिक आधारों पर आलोचना है और इससे हम परिचित हैं अतएव इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इसलिये हम यहां केवल द्वितीय पक्ष पर ही विचार करेंगे और यही वास्तव में अराजकतावाद का विशिष्ट पक्ष है।

**क्या शासन आवश्यक है?** : आर्थिक क्षेत्र में अराजकतावाद एक विश्व-व्यापी साम्यवादी व्यवस्था में विश्वास करता है, जिसका वर्णन क्रोपॉटकिन ने निम्नोक्त शब्दों में किया है : "सब कुछ प्रत्येक का है। यदि प्रत्येक व्यक्ति—पुरुष तथा स्त्री—आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में भाग लेता है तो उसका यह अधिकार है कि समस्त उत्पादित वस्तुओं में से, जिनका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया है, अपना भाग ले।"

इस स्थल पर तत्काल यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "सबको यथोचित भाग मिल रहा है या नहीं, इसके निश्चय के लिये क्या किसी न किसी रूप में शासन आवश्यक नहीं है ?" मार्क्सवादी साम्यवादियों के प्रतिकूल अराजकतावादी इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देते हैं। उनके अनुसार अभी तक समस्त शासनों का मुख्य कार्य यही रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का भाग न्यायोचित न हो।

निरंकुशतन्त्र तथा भ्रष्ट-आभिजात्य-तन्त्रों के सम्बन्ध में इस कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध है। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का शासन स्पष्टतः इस सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति समान है। यदि सैद्धान्तिक रूप से ऐसा शासन सम्पत्ति की समानता के विरुद्ध न भी हो, व्यवहार में इसका प्रयोग सदैव सत्तावान व्यक्तियों के ही हित में किया गया है।

परन्तु क्या उपर्युक्त कथन बहुमत स्वीकृति पर आधारित प्रतिनिधि शासन के सम्बन्ध में भी सत्य है ? अराजकतावादी का उत्तर है, 'हाँ'। इतना ही नहीं उसके अनुसार केवल वर्त्तमान राज्य व्यवस्था ही नहीं, अपितु भावी राज्य-व्यवस्थाओं के सभी कल्पना-सम्भवरूप अनावश्यक एवं हानिकारी होंगे।

शासन के प्रति इस दृष्टिकोण के लिये अराजकतावादी के निम्न लिखित कारण हैं :

**(अ) वर्त्तमान राज्य के प्रति अविश्वास :** वर्त्तमान राज्य का कुछ व्यक्तियों द्वारा एक साधन के रूप में, उन वस्तुओं पर अपना एकाधिकार बनाये रखने के लिये प्रयोग किया जाता है, जिन पर यथार्थतः सबों का समान अधिकार है। इसी कारण राज्य उन एकाधिकारों का उन्मूलन नहीं कर सकता, जिनकी वह रक्षा करता है। फलस्वरूप जब तक राज्य का स्थान कोई अन्य संगठन नहीं ग्रहण करता है, पूँजीवाद तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त नहीं हो सकता। संक्षेप में, समाजवादियों की यह धारणा असत्य है कि राज्य पर अधिकार कर उसका प्रयोग एक नवीन सामाजिक युगके आरम्भ के लिये किया जा सकता है।

अराजकतावादी इसी कारण शासन के वर्त्तमान कार्य क्षेत्र को विस्तृत करने के विरुद्ध हैं, चाहे ऐसा करना जन-हित के अनुकूल ही क्यों न प्रतीत हो। वे श्रमिकों के राजनीतिक दलों के सदस्य होने तथा राष्ट्रीय संसद के लिये चुनाव लड़ने के भी विपक्ष में हैं।

**प्रतिनिधि-शासन का तर्काभास :** उपर्युक्त तर्क न केवल वर्त्तमान राज्यों के ही, प्रत्युत राज्य के किसी भी सम्भाव्य रूप के, विरुद्ध युक्ति-सङ्गत हैं। राज्य स्वभावत: ही एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्था है जो सत्ता का प्रयोग करती है। राज्य के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक प्रश्न पर इसके उत्पन्न होते ही जनता का मत ले, इसलिये यदि राज्य निरंकुशतन्त्र नहीं होना चाहता तो उसके लिये केवल यही मार्ग है कि वह प्रतिनिधि शासन द्वारा कार्य करे। अत: प्रतिनिधि प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का यह आधार है कि जनता के द्वारा कुछ व्यक्ति निर्वाचित किये जायेंगे जो उसका प्रतिनिधित्व करेंगे तथा कुछ निश्चित वर्षों तक जनता की इच्छाओं को कार्यान्वित करेंगे। परन्तु यह सत्य है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व यथेष्ट प्रकार नहीं कर सकता; उसके लिये किसी व्यक्ति-समुदाय का प्रतिनिधित्व करना तो और भी कठिन है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि उसे उन सब बातों के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता जिनके सम्बन्ध में उसे निर्णय करना होता है। मनुष्य अपने व्यवसाय के अतिरिक्त न कुछ जानता है और न जान सकता है, तथा प्रत्येक विभाग में वे ही व्यक्ति निर्देशन के लिये सर्वाधिक उपयुक्त हैं जो उस विभाग में स्वयं काम करते हैं। इसलिये प्रतिनिधि शासन उन व्यक्तियों द्वारा शासन है जो प्रत्येक वस्तु के विषय में केवल इतना ही ज्ञान रखते हैं कि उसे अयोग्य ढंग से कर सकें, और किसी विषय में भी उनका इतना ज्ञान नहीं होता कि उसे भलीभांति सम्पन्न कर सकें। फलत: प्रतिनिधि शासन पेशेवर राजनीतिज्ञ (इस अर्थ में पेशेवर कि वह ज्ञान के स्थान पर केवल बात बनाना जानता है), पेशेवर वकील तथा पेशेवर पुरोहित को जन्म देता है, जिनका काम ही मानवीय दुर्बलताओं को, जिन पर वे निर्भर रहते हैं, बनाये रखना है। राजनीतिज्ञ

बिना मानव-वंश-शास्त्र (ethnology) या भूगोल के ज्ञान के सीमाओं का निर्धारण करते हैं, तथा वकील मनोविज्ञान के प्रारम्भिक ज्ञान बिना ही इच्छा, उद्देश्य तथा लक्ष्यों के प्रश्नों का निर्णय करते हैं। अतएव, अराजकतावाद, अप्रत्याशित रूप से, यह चाहता है कि शासन-कार्य विशेषज्ञों द्वारा संचालित हो, न कि अदक्षों (amateurs) द्वारा।

दूसरा कारण यह है कि राज्य द्वारा निर्णय किये जाने वाले प्रत्येक प्रश्न के सम्बन्ध में लोक-संकल्प अलग-अलग होता है या तो प्रतिनिधि अन्धकार में कार्य करेगा, यह स्पष्टतः उसके निर्वाचकों के हित में नहीं है, अथवा प्रत्येक समय जब कोई प्रश्न निर्णय के लिये उपस्थित होगा उसे अपने निर्वाचकों की एक सभा बुलानी होगी, जिसमें वाद विवाद के पश्चात् वे अपने संकल्प को निश्चित करेंगे। परन्तु उत्तरोक्त दशा में प्रतिनिधि अनावश्यक हो जायगा।

अतः प्रतिनिधि व्यवस्था के विषय में यह कहा जा सकता है कि या तो यह अनावश्यक है, या यह प्रतिनिधित्व नहीं करती। लोक-संकल्प के यथार्थ प्रतिनिधित्व की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह यह है कि किसी प्रश्न विशेष से सम्बन्धित समस्त व्यक्तियों की एक सभा बुलाई जाय। यह सभा उस प्रश्न विशेष के सम्बन्ध में अपना संकल्प अभिव्यक्त करने के लिये तदर्थ प्रतिनिधि नियुक्त करेगी, तथा जैसे ही वह प्रतिनिधि उस प्रश्न के सम्बन्ध में जनता के संकल्पों को अभिव्यक्त कर देगा, उसके प्रतिनिधि रूप का अन्त हो जायगा। किसी भी परिस्थिति में प्रतिनिधि को उन विषयों के अतिरिक्त, अन्य किसी भी विषय के सम्बन्ध में, विधि-निर्माण का अधिकार नहीं होना चाहिये, जिनके लिये उसको निर्वाचित किया गया है।

यह प्रस्तावित पद्धति प्रतिनिधि-शासन की कुशलता में अविश्वास प्रकट करने के तुल्य है, एतदर्थ औसत प्रजातन्त्रवादी इसे अवांछनीय समझता है। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि विद्वत् समाज तथा व्यापारियों द्वारा किसी भी प्रश्न विशेष के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिये इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता है?

(स) **शक्ति का प्रभाव** : सदुद्देश्य व्यक्ति भी प्रभुता पाकर भ्रष्ट हो जाते हैं। यह उन्हें स्वार्थी, घमण्डी, अत्याचारी तथा जिन्होंने उन्हें सत्तारूढ़ किया है उनके हितों की उपेक्षा करनेवाला बना देती है। उदाहरणार्थ, राजनीतिज्ञ अपने स्वभाव के कारण नहीं अपितु अपने पद के कारण दुष्ट है, इस कारण नहीं कि वह मनुष्य है परन्तु क्योंकि वह राजनीतिज्ञ है। इसलिये किसी भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को अपने साथियों के ऊपर शासन करने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिये।

क्योंकि अराजकतावादी शक्ति पर आधारित शासन को समाप्त करना चाहता है इसलिये उस पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह अपने साथी मनुष्यों पर अनावश्यक विश्वास करता है। परन्तु उसके अनुसार इसका वास्तविक कारण यह है कि वह उन पर अत्यधिक अविश्वास करता है। क्योंकि अराजकतावादी मानव-स्वभाव पर अविश्वास करता है इसलिये वह उसे शासनाधिकार नहीं देना चाहता। क्रोपॉतकिन की तरह उसका यह कहना है कि "यह या वह मन्त्री एक श्रेष्ठ मनुष्य होता, यदि उसे सत्ता न दी गई होती।"

परन्तु शासन द्वारा प्रभुता के प्रति जो आसक्ति पैदा हो जाती है, उसका पोषण केवल प्रभुता के प्रयोग द्वारा ही हो सकता है, और प्रभुता के प्रयोग के लिये अनिवार्यतः ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता पड़ेगी, जिन पर वह प्रयुक्त की जा सके। इसलिये शासन स्वभावतः शक्ति-प्रयोग करते हैं; यह शक्ति उन मनुष्यों को जो स्वभावतः मित्र हैं भिन्न तथा शत्रुतापूर्ण राष्ट्रीयताओं में विभाजित कर देती हैं, और जो मनुष्य स्वभावतः परस्पर भाई-भाई हैं उन्हें भिन्न और विरोधी वर्गों में विभक्त कर देती है। अस्तु, आन्तरिक संघर्ष तथा बाह्य युद्ध के दोष, अराजकतावादी के अनुसार, शासन के होने के कारण ही उत्पन्न होते हैं। लो डिकिन्सन (Lowes Dickinson) की पुस्तक "मॉडर्न सिम्पोज़ियम" (*Modern Symposium*) में अराजकतावादी प्रवक्ता कहता है, "शासन का अर्थ बाध्यता, बहिष्करण, व्याकुलता तथा पृथक्करण होता है, जब कि अराजकता का अर्थ स्वतन्त्रता, संयोग तथा प्रेम है। शासन का

आधार अहंवाद तथा भय है, अराजकता का भ्रातृत्व, क्योंकि हम अपने को विभिन्न राष्ट्रों में विभाजित कर लेते हैं इसलिये हम सेना तथा युद्धास्त्रों के भार से उत्पीड़ित हैं; क्यों कि हम व्यक्तियों के रूप में एक-दूसरे से अलग हैं इसलिये हमें विधि के संरक्षण की आवश्यकता होती है।"

**(द) राज्य क्यों अनावश्यक है ?** : अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बतलाता है और इसकी पुष्टि वह मूर्त्त उदाहरणों द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, वह प्रश्न करता है, "क्या राज्य शिक्षा के लिये आवश्यक है?" और उत्तर देता है, "नहीं।" यदि श्रमिकों को अपनी शिक्षा के लिये पर्याप्त अवकाश उपलब्ध हो, तो उनमें से जो अध्यापन-कार्य में रुचि रखते हैं वे स्वयं दूसरों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर देंगे और ऐसी अनेक स्वैच्छिक शिक्षा संस्थाओं का जन्म हो जायगा, जिनमें से प्रत्येक इस बात का प्रयत्न करेगी कि वह दूसरों से अच्छा यह कार्य कर सके।

क्या राज्य बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के लिये आवश्यक है? इसका भी उत्तर नकारात्मक ही है। क्रोपॉतकिन का कहना है कि राज्य की स्थायी सेनाएँ सदा आक्रमणकारियों द्वारा परास्त हो जाती हैं। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि सदैव स्वतः प्रवृत्त जनता की सेनाओं ने, जिनका संगठन राज्य द्वारा नहीं किया गया था, उनका सफलतापूर्वक सामना किया।

इसी प्रकार राज्य द्वारा आन्तरिक क्षेत्र में भी व्यक्ति की सुरक्षा उचित प्रकार नहीं हुई है। नागरिक की अपराधियों से रक्षा करने के स्थान पर यह अपराधियों को जन्म देता है। यह अपने त्रुटिपूर्ण-आर्थिक व्यवस्था-जनित कष्टों के कारण मनुष्यों को अपराध करने के लिये प्रवृत्त करता है, और तब उन्हें इन अपराधों के लिये जेल भेजता है। इसका यह कुफल होता है कि इन व्यक्तियों के लिये ईमानदारी से जीविकोपार्जन का मार्ग सदा के लिये बन्द हो जाता है और इसके फलस्वरुप उनकी अपराधी-मनोवृत्ति स्थायी हो जाती है।

कला, विज्ञान, तथा व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्रों में, जहां मनुष्य ने अपनी शक्ति का मुख्यतः प्रदर्शन किया है और सबसे अधिक प्रगति की है, राज्य

इस्तक्षेप करने का विचार भी नहीं करता। इन क्षेत्रों में मनुष्यों की स्वतन्त्र क्रियाशीलता स्वैच्छिक संगठनों, सभाओं तथा विद्वत् समाजों में प्रकट होती है। रॉयल सोसायटी तथा ब्रिटिश एसोसियेशन जैसी संस्थाएं, जो इन क्षेत्रों में काम करती हैं, अपने आवश्यक कार्यों के सम्पादन के लिये राज्य की भांति बल-प्रयोग पर निर्भर न होकर, स्वतन्त्र-सहयोग पर निर्भर रहती हैं।

व्यापार आदि के सम्बन्ध में, अन्तरराष्ट्रीय रेल यातायात के प्रबन्ध का दृष्टान्त देकर क्रोपॉतकिन अपने मत की पुष्टि करता है। मैड्रिड से मॉस्को जाने वाला यात्री लाखों श्रमिकों द्वारा बनाये गये रेल पथ तथा दर्जनों कम्पनियों द्वारा चलाई गई रेलगाड़ियों द्वारा यात्रा करता है। परन्तु ऐसी यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हो सके इसके लिये अनेक रेल कम्पनियां आपसी समझौतों द्वारा व्यवस्था करती हैं। ये समझौते पूर्णत: स्वेच्छाकृत होते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र सहयोग बाध्यता का स्थान ले लेता है और स्वेच्छाकृत समझौता राज्य द्वारा प्रभावीकृत नियमों का।

**स्वतन्त्र समाज का संघठन:** भविष्य के समाज का संगठन इसी प्रकार का होगा। राज्य का अन्त हो जाने पर व्यवस्था किस प्रकार स्थिर रखी जायेगी तथा कार्य किस प्रकार सम्पन्न किये जायेंगे? इसका उत्तर यह है कि यह सब काम विशिष्ट उद्देश्यों के लिये निर्मित एतदर्थ (ad hoc) स्वैच्छिक संवासों द्वारा किये जायेंगे। प्रत्येक व्यापार तथा व्यवसाय में संलग्न व्यक्ति अपना एक संगठन बना लेंगे। इसके द्वारा ही अपने कर्मचारियों का निर्वाचन तथा उन्हें पदच्युत करना, नीति निर्धारित करना और अन्य वैसे ही संगठनों के साथ सहयोग करना आदि, काम किये जायेंगे। अराजकतावादी समाज इस प्रकार के संगठनों का एक समुच्चय होगा, जिसमें व्यवस्था बल-प्रयोग द्वारा न होकर स्वेच्छा पर आधारित होगी। लो डिकिन्सिन की पुस्तक के अराजकतावादी प्रवक्ता के शब्दों में, "अराजकता शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का नहीं।"

ये संवास, समूह तथा संघ विभिन्न आकार-प्रकार के होंगे और इनका निर्माण अलग-अलग उद्देश्यों के लिये किया जायगा। इन अनेक शक्तियों तथा

प्रभावों के सन्तुलन द्वारा समाज में सामंजस्य स्थापित किया जायगा। परन्तु इससे यह नहीं सोचना चाहिये कि अराजकतावादी समाज गतिहीन होगा, अर्थात्, एक स्थायी पूर्णता प्राप्त समाज होगा। इसके प्रतिकूल विभिन्न संवासों का, जिनसे मिलकर समाज बनेगा, प्रभाव निरन्तर घटता-बढ़ता रहेगा, इसलिये उनके मध्य सन्तुलन को बारबार संयोजित करना होगा। परन्तु ऐसे समाज में न विशेषाधिकार प्राप्त संगठन होंगे और न ऐसे वर्ग होंगे, और न राज्य ही होगा जो कि एक संगठन को दूसरे के मूल्य पर रक्षा प्रदान करे, इसलिये इसमें आज की स्थिति के बजाय सन्तुलन स्थापित करना सरलतर होगा। सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये स्वैच्छिक संवास होंगे। ये संवास ही, जिनमें से कुछ व्यावसायिक तथा कुछ क्षेत्रीय आधार पर संगठित होंगे, वे सब काम करेंगे जो आज राज्य द्वारा किये जाते हैं। आधुनिक शब्दावली में अराजकतावाद का प्रथम तथा प्रधान उद्देश्य, क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक, विकेन्द्रीयकरण है। यह समाज का आधार सबसे छोटे संवास–ग्राम या कारखाने–को मानता है। इसी मौलिक इकाई से समाज विकसित होगा। यह विकास सदैव सरल से जटिल की ओर होगा। इस प्रकार सबसे छोटी तथा सरलतम इकाई, आज की तरह सबसे कम महत्त्वपूर्ण समझी जाने के बजाय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जायगी। उसी पर समाज का सम्पूर्ण संघठन निर्भर होगा।

यदि हम यह प्रश्न करें कि "इस समाज में, हितों का समन्वय, संघर्षों की रोकथाम, तथा विभिन्न संवासों के मध्य सद्भावना बनाये रखने का काम कौन करेगा ?" तो इसका यह उत्तर है कि जब लोग समुचित रूप से शिक्षित होंगे, जब धनी तथा निर्धन के मध्य असमानता नहीं होगी जो असन्तोष उत्पन्न करती है, और इसको उभाड़ने के लिये एकाधिकारियों (monopolists) को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा तब हितों के मध्य संघर्ष शायद ही कभी हो और असामंजस्य के अवसर भी बहुत ही कम होंगे।

वे लोग जिनकी उपक्रम की क्षमता सरकारी छत्र-छाया के कारण समाप्त

नहीं हो गयी है और जिनकी रुचियां शासन के हस्तक्षेप के कारण कुण्ठित नहीं हो गई हैं, स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित होंगे और इस मुक्त एवं पूर्ण विकास के कारण उनकी सामाजिक-भावना इस सीमा तक बढ़ जायगी कि हम उसकी आज कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। स्पर्धा शत्रुता को जन्म देती है, इसलिये इसका अन्त कर देना चाहिये, इससे मनुष्य की मैत्री की स्वाभाविक भावना विकसित तथा गम्भीर होने लगेगी। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक मनुष्य प्रत्येक बाहरी समूह को अपना प्रतिद्वन्द्वी अथवा शत्रु समझने के स्थान पर एक मैत्रीपूर्ण समाज समझेगा, जिसको उनके मैत्रीपूर्ण सहयोग की सहर्ष आवश्यकता है।

अराजकतावादी इसके उपरान्त यह कहते हैं कि इस स्वतन्त्र व्यवस्था तथा संयोग के सिद्धान्त के कारण समाज का स्वाभाविक समूहीकरण हो जायगा। यह वर्त्तमान शासन कृत कृत्रिम समूहीकरण की तुलना में इतना अधिक सामंजस्यपूर्ण, सन्तोषप्रद तथा दक्षतापूर्ण होगा कि मतभेदों तथा लड़ाई-झगड़ों का इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता। वैसे तो इस समाज में इस प्रकार के मत-भेदों की सम्भावना ही नहीं है।

फूरियॆ ( Fourier ) के कथनानुसार, "छोटे-छोटे कंकड़ों को एक सन्दूक में भर कर हिलाइये, वे इस सुन्दरता से आपस में बैठ जायेंगे कि आप उस प्रकार का आकार किसी व्यक्ति के द्वारा कभी भी नहीं बनवा सकते।"

ऊपर अराजकतावादी सिद्धान्त की संक्षिप्त एवं अनिवार्यतः अस्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इस अस्पष्टता का कारण यह है कि यद्यपि इस सिद्धान्त की रूपरेखा अत्यन्त सरल है, तथापि यह केवल रूपरेखा मात्र ही है। अन्य उग्र सिद्धान्तों की भांति, अराजकतावादी भी अपनी सरलता के कारण इतना अधिक युक्तिपूर्ण भास होता है। परन्तु यह युक्तिपूर्णता केवल भ्रमोत्पादक है, क्योंकि अराजकतावादी अपनी आकर्षक रूपरेखा को विस्तृत नहीं करते हैं अथवा ऐसा करने में असमर्थ हैं।

हम अगले अध्याय में इस विषय पर अपने कुछ विचार प्रकट करेंगे कि

अराजकतावादियों का यह कथन कहां तक बुद्धिमत्तापूर्ण है कि राज्य का एक केन्द्रीय निकाय तथा समाज के शक्ति-कोष के रूप में भी अन्त कर देना चाहियें।

६

# समाजवादी सिद्धान्त की समस्यायें

गत तीन अध्यायों में समाजवादी सिद्धान्त के जिन विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है, उनसे सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। इनमें से कई प्रश्न अत्यन्त ही विवादास्पद हैं, और यह संदिग्ध है कि उनके सम्बन्ध में कोई ऐसी बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है जिसे कि उतने ही तर्कपूर्ण ढंग से अस्वीकृत न किया जा सके। परन्तु साथ ही इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हमारा यह सर्वेक्षण उस समय तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक हम इससे सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर विचार न करें, जिनका वर्त्तमान समय में विशेष व्यावहारिक महत्त्व है।

हम संक्षेप में यह कार्य करेंगे और केवल तीन प्रश्नों पर ही विचार करेंगे। वे प्रश्न हैं : (१) मनोवैज्ञानिक प्रश्न, क्या समाजवाद लोगों को सांसारिक कार्य करने के लिये पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करता है (२) व्यावसायिक प्रजातन्त्र का प्रश्न तथा (३) विकासवादी तथा क्रान्तिवादी समाजवादियों द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना के लिये जिन विभिन्न पद्धतियों के प्रस्ताव रखे गये हैं उनके गुण।

**(१) मनोवैज्ञानिक प्रश्न :** प्रत्येक प्रकार के समाजवाद का मौलिक प्रश्न यह है कि क्या मनुष्यों को अपने आर्थिक लाभ के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से कार्य करने को प्रवृत्त किया जा सकता है ? जब तक इस सम्बन्ध में समाजवादियों की धारणा का औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता तब तक किसी भी प्रकार का समाजवाद व्यवहार में सफल नहीं हो सकता। समाजवाद के विरोधी समवेत कण्ठ से यह कहते हैं कि मनुष्य तभी काम करेंगे या अच्छी प्रकार काम करेंगे जब वे अपने लिये काम करते हैं। सामाजिक कल्याण उन्हें इसके लिये उत्साहित नहीं कर सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने पड़ोसी

से अधिक अच्छा काम करने की प्रेरणा तथा इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं का एक अधिक बड़ा भाग प्राप्त करना ही केवल वह उद्देश्य-शक्ति है जो कि उत्पादन के वर्त्तमान स्तर को बनाये रख सकती है। एतदर्थ समाज का आधार केवल व्यक्तिगत लाभ तथा स्पर्धा ही हो सकती है।

उक्त तर्कों के औचित्य पर अपने वर्त्तमान अनुभव के आधार पर कोई निश्चयात्मक निर्णय देना हमारे लिये सम्भव नहीं है। परन्तु निम्नोक्त विचार यह प्रदर्शित करने के लिये उपस्थित किये जा सकते हैं कि वे निर्णयात्मक भी नहीं हैं।

(अ) समाजवाद-विरोधियों के तर्कों के मूल में यह धारणा लगती है कि मनुष्य स्वभावतः काम नहीं करना चाहते। यह सत्य है अधुना मनुष्य की काम करने के विरुद्ध ही भावना है, परन्तु इसका यह कारण है कि बहुधा उन्हें अरुचिकर-कार्य तथा अतिरिक्त-कार्य करना पड़ता है। जो मनुष्य किसी छोटे से नीरस काम को ही लगातार प्रतिदिन आठ-नौ घण्टे करता है, वह स्वाभाविकतः ही ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करेगा जिसमें उसे कुछ भी काम न करना पड़े। इस काल्पनिक निष्क्रियता के प्रति उसका उत्साह इस कारण भी बढ़ता है क्योंकि वह जानता है कि उसके वर्त्तमान श्रम का मुख्य उद्देश्य दूसरों के लिये धनार्जन करना है। अधिकांश व्यक्तियों का दो-तिहाई जीवन तो जीवन के साधन उपलब्ध करने में व्यतीत हो जाता है और केवल एक-तिहाई भाग में वे जीवन के शेषांश का उपभोग कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनके लिये यह सोचना स्वाभाविक है कि जहां जीवन के साधन निर्मूल्य उपलब्ध हो जायेंगे, वहां उनके उपभोग से जीवन की आकांक्षाओं की सन्तुष्टि पर्याप्त रूप से हो जायगी। परन्तु यह अनुमान भ्रान्तिपूर्ण है। अधिकांश व्यक्ति परिमित रूप में काम करना चाहते हैं और उन्हें शीघ्र ही यह ज्ञात हो जायगा कि केवल आनन्दोपभोग का जीवन वास्तव में नीरस है। बर्नार्ड शॉ के शब्दों में "शाश्वत अवकाश ही नर्क की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा है।" हममें से अधिकांश के लिये आनन्द का यही नुस्खा सर्वोत्तम है कि हमें इतना अवकाश न हो कि हम यह सोचने लगें, क्या हम दुःखी हैं?

उस अवकाशप्राप्त व्यापारी का दृष्टान्त हमारे मत को स्पष्ट कर देता है, जो धन उपार्जित कर चुका है और अब उसका सुखोपभोग करना चाहता है। जीवनपर्यन्त धनोपार्जन करनेके बाद, वह अपने असीमित अवकाश से इतना अधिक ऊब जाता है कि उसे कोई दूसरा काम प्रारम्भ करना पड़ता है। फलतः वह कोई खतरनाक या श्रमपूर्ण शौक को पूरा करने के लिये बड़ी-बड़ी धनराशिया व्यय करता ;, जैसे पर्वतारोहण, मरुस्थल-अनुसंधान या केलिपोतों ( yacht ) की दौड़। इनें सबों में दूसरे लोग तभी उसका साथ देंगे यदि उन पर अधिक व्यय किया जाय। ऐसा न कर सकने पर वह पुनः अपने व्यापार में लग जाता है और अनचाहे धनोपार्जन करने लगता है। इसका कारण यह है कि बिना कठिन श्रम किये, जिसका उसे अभ्यास है, वह अपना जीवन सुखी नहीं बना सकता।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो स्वभावतः काम करना पसन्द नहीं करते, जैसे, आवारा या कलाकार, परन्तु आवारे का स्वभाव, जो कुछ नहीं करेगा या कलाकार का स्वभाव, जो केवल वही काम करेगा जो वह यथार्थतः करना चाहता है, बहुत कम होते हैं। परिश्रम मनुष्य की प्रकृति है और यदि वे अपने लिये काम नहीं कर सकते तो वे दूसरों के लिये काम करने का आग्रह करेंगे।

क्रोपॉतकिन के शब्दों में, "मनुष्य स्वभाव अतिरिक्त-काम से घृणा करता है, न कि काम से......काम, श्रम, शारीरिक आवश्यकता है; अर्थात् संचित शारीरिक शक्ति को व्यय करने की आवश्यकता, ऐसी आवश्यकता जो स्वयं स्वास्थ्य तथा जीवन है।"

इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि काम गुण की दृष्टि से अनेक प्रकार का हो और मात्रा की दृष्टि से भार-स्वरूप न हो। यदि ऐसा किया गया तो इस बात की आशा करनी चाहिये कि अधिकांश व्यक्ति काम उल्लासपूर्वक करेंगे।

परन्तु गन्दे, अरुचिकर तथा भयानक कामों का क्या होगा? क्या व्यक्ति इन्हें अर्थ-लाभ के अतिरिक्त स्वेच्छा से करेंगे? इस प्रश्न का उत्तर हमें हमारे दूसरे विचार की ओर ले जाता है।

(ब) ऐसे समुदाय में जिसका आधार सामाजिक सेवा का सिद्धान्त है न कि व्यक्तिगत लाभ का, यह सम्भव होगा कि गन्दे तथा अरुचिकर काम को बहुत ही कम कर दिया जाय। यह कमी उद्योग में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग कर प्राप्त की जा सकती है। आज भी उद्योग में विज्ञान का प्रयोग किया जाता है, परन्तु उसी सीमा तक जहां तक उसका प्रयोग लाभार्जन का साधन होता है। मशीनों के द्वारा गन्दा तथा अदक्ष (unskilled) काम करने से बहुधा कोई आर्थिक लाभ नहीं होता क्योंकि अदक्ष श्रमिकों द्वारा यह काम और भी सस्ते में कराया जा सकता है। इसलिये आज भी जहाजों के कोयले के गोदामों में, अत्यन्त ही अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में, भट्टियों में कोयला झोंकने का का काम मनुष्यों द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि यदि इसके लिये मशीनों का प्रयोग किया जाय तो इससे जहाज कम्पनी के लाभ में कमी हो जायगी। क्रोपॉतकिन ने लिखा है, "यदि अब भी अरुचिकर काम शेष है तो इसका यह कारण है कि हमारे वैज्ञानिकों ने कभी भी उन साधनों पर ध्यान नहीं दिया जिससे वे कम अरुचिकर हो सकें। वे जानते हैं कि ऐसे अनेक क्षुधा-पीड़ित व्यक्ति हैं जो कि इन कामों को चन्द पैसों में कर देंगे।" यदि उद्योगों का संचालन सम्पूर्ण समुदाय के हितार्थ किया जाय, तथा समुदाय के सदस्य के नाते श्रमिकों की सुख-सुविधा का पर्याप्त ध्यान रखा जाय तो विज्ञान के समस्त साधनों का प्रयोग गन्दे तथा अरुचिकर कामों को हटाने या उनको मशीनों द्वारा कराने में किया जायगा। ऐसे जो काम तब भी बच जांय उन्हें सामाजिक सम्मान या अधिक धन के आकर्षण द्वारा उन व्यक्तियों से कराया जा सकता है जो इसके लिये प्रस्तुत हैं।

(स) **समाज सेवा का उद्देश्य :** सामान्यत: यह विश्वास है कि समाज-सेवा के उद्देश्य से मनुष्य कार्य में प्रेरित नहीं होते। यह विश्वास भ्रमपूर्ण है। समाज सेवा के भाव को जगाकर या जैसा कुछ लोग कहेंगे, इस इच्छा को जागृत कर कि अपने सहयोगियों की भलाई करनेवालों को श्रेय तथा सम्मान प्राप्त होता है, समाज कठिन से कठिन तथा खतरनाक से खतरनाक काम करा लेता है।

जो स्वयं सेवक मृत्यु का आलिंगन करने के लिये आगे बढ़ता है, वह कुछ अधिक वेतन की आशा से अपने जीवन को संकट में नहीं डालता अपितु उसका यह कार्य अनेक उद्देश्यों के मिश्रण का फल है, जिसमें वीरता के साथ ही अपने साथियों की रक्षा करने की भावना सन्निहित है और सम्भवत: पृष्ठभूमि में विक्टोरिया क्रॉस पाने की इच्छा भी।

यह कहना उचित नहीं होगा कि ऐसे उद्देश्य असाधारण व्यक्ति के असाधारण समय में ही होते हैं। प्रत्येक छोटे समुदाय में सेवा की इच्छा, समुदाय के लिये तथा उसके हित में काम करने की इच्छा, सतत क्रियाशील रहती है और यह उसके सदस्यों के जीवन का एक शक्तिशाली तत्त्व है। अपने दल के लिये खेलने वाला विद्यार्थी, या अपने धार्मिक सम्प्रदाय के हित में योजना बनाने में संलग्न तथा साहसी काम करने वाला भिक्षु, दोनों ही इसी इच्छा के वशीभूत होकर काम कर रहे हैं। परन्तु यह भावना एक स्वचालित यन्त्र नहीं है जिस पर सदा निर्भर रहा जा सके। इसको प्रभावी बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि इसे उत्साहित किया जाय तथा इसे जीवित रखने के लिये इसे सामाजिक मान्यता प्रदान की जाय। वर्त्तमान समय में ऐसा नहीं किया जाता है। प्रचार के प्रमुख साधन, जिनके द्वारा मनुष्यों के मस्तिष्कों को प्रभावित किया जा सकता है, उन लोगों के हाथों में हैं जिनके हित स्पर्धा की वर्त्तमान व्यवस्था से सम्बन्धित है। व्यावसायिक क्षेत्र में आगे बढ़ने की उत्कट अभिलाषा तथा दूरदर्शिता, या दूसरे शब्दों में अपने पड़ोसी से अधिक सफलता प्राप्त करने की क्षमता तथा उसके मूल्य पर लाभार्जन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता है। इसके विपरीत, सहयोग तथा व्यक्तिगत स्वार्थ को सामाजिक हित के लिये बलिदान करने के सामाजिक गुणों की, युद्ध-काल के अतिरिक्त, जब कि पूँजीवादी व्यवस्था के लिये बाहर से भय उत्पन्न हो जाता है, और उसे इन गुणों की अपनी रक्षा के लिये आवश्यकता होती है, सदैव उपेक्षा तथा अवहेलना की जाती है।

जिस प्रकार वयस्क मस्तिष्क को प्रभावित किया जाता है उसी प्रकार,

अपितु उससे भी अधिक प्रयत्न तरुण मस्तिष्कों को प्रभावित करने के लिये किया जाता है। शिक्षा देश-भक्ति पर अत्यन्त बल देती है, जिसके द्वारा एक देश का नागरिक दूसरे देशों के नागरिकों का नाश कर अपने देश का हित-साधन करता है। परन्तु हमारी शिक्षा में समाज-सेवा के गुणों के सम्बन्ध में कुछ नहीं बतलाया जाता जिनके द्वारा व्यक्ति अपना स्वार्थ त्याग कर सामाजिक कल्याण को बढ़ा सकता है। उसे सिखाया जाता है कि देश के लिये जीवनोत्सर्ग करना चाहिये परन्तु काम केवल अपने स्वार्थ के लिये ही किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप तरुण-मस्तिष्क में अचेतन रूप से ही यह विश्वास घर कर जाता है कि उसके कार्य का केवल मात्र उद्देश्य अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिये धनोपार्जन है; सामाजिक कल्याण के लिये काम करना तो नितान्त मूर्खता है।

परन्तु इन मान्यताओं में जो जनमत को निर्धारित करती हैं, परिवर्तन करना असम्भव नहीं है। जनमत के दो मुख्य साधन हैं, शिक्षा तथा समाचार-पत्र। शिक्षा की मूल प्रेरणा में तथा समाचारपत्रों का नियन्त्रण करने वाले प्रभावों में परिवर्तन करने से यह सम्भव हो जायगा कि जनमत की धारा को व्यक्तिगत-स्वार्थ के प्रतिकूल सामाजिक-सेवा की दिशा में मोड़ा जा सके। इस प्रकार का परिवर्तन तभी सम्भव होगा जब राज्य बड़े-बड़े सम्मान व पुरस्कार उन लोगों को न दे जिन्होंने समाज के हितों के मूल्य पर स्वार्थ साधन किया है, अपितु उनको दे जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत उन्नति की चिन्ता किये बिना, दूसरों की उन्नति तथा सुख के लिये कार्य किया है।

परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि समाज-सेवा का उद्देश्य जिसको समाजवादी उपर्युक्त साधनों द्वारा विकसित करना चाहते हैं, केवल छोटे-छोटे समुदायों में ही प्रभावपूर्ण रूप से क्रियाशील हो सकता है। इस प्रश्न पर हम व्यावसायिक प्रजातन्त्र के शीर्षक के अन्तर्गत विचार करेंगे।

**(द) समाजवाद में पारिश्रमिक व्यवस्था :** यह तर्क कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लोग आलसी हो जायेंगे और उत्पादन का परिमाण घट

जायगा वास्तव में निरर्थक है क्योंकि अधिकांश समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा में काम करना होगा। समष्टि-वादी समाजवादियों का यह सिद्धान्त है कि सामान्यत: केवल श्रम के द्वारा ही व्यक्ति श्रम के फलों के उपभोग का अधिकार प्राप्त करता है और वर्त्तमान व्यवस्था के विरुद्ध उनका एक गम्भीर आरोप यह है कि अनेक व्यक्ति इसके अन्तर्गत दूसरों के श्रम द्वारा उत्पादित धन का उपभोग करते हैं। समष्टि-वादियों के अनुसार यह सबसे बड़ा सामाजिक अपराध है कि व्यक्ति "बिना उत्पादन किये उपभोग करे।" इसलिये यह सम्भव नहीं लगता कि वृद्ध तथा दुर्बल व्यक्तियों के अतिरिक्त, समाजवादी उन लोगों को जीवन की आवश्य-कताएं प्रदान करेंगे, जो काम रहते हुए भी जानबूझ कर काम नहीं करते। यह मान लेने का भी कोई कारण नहीं है कि श्रेणी-समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जिन उत्पादकों की श्रेणियों का संघठन होगा, वे इससे भिन्न दृष्टिकोण को प्रश्रय देंगी। जहां तक साम्यवाद का सम्बन्ध है, अनेक पश्चिमी यूरोपीय लेखकों द्वारा रूस में प्रचलित श्रमिकों की बलात भर्ती की प्रथा की कटु आलोचना की गई है। केवल अराजकतावाद ही सब प्रार्थियों को सार्वजनिक वस्तुएं बिना काम करने का बन्धन लगाये, वितरित करने के पक्ष में है। इसका कारण यह है कि अराजकतावादी का यह विश्वास है कि उस समाज में जिसकी वे कल्पना करते हैं प्रत्येक व्यक्ति स्वयमेव काम करेगा। ऊपर खण्ड (अ) में जो कारण दिये गये हैं, उनसे यह सम्भव है कि ऐसा हो, और ज्यों-ज्यों समाजवादी शासन का काल बढ़ता जाय त्यों-त्यों शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ती जाय, तथा स्पर्द्धायुक्त औद्योगिक व्यवस्था में श्रम को हीन दृष्टि से देखने की जो प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है, वह क्रमशः लुप्त होती जाय।

परन्तु ऐसा मानना अविवेकपूर्ण ही होगा कि अराजकतावादी धारणा, विशेषत: दीर्घकाल तक, व्यवहार योग्य है। इस सम्बन्ध में समष्टिवादी समा-जवादियों की योजना ही अधिक व्यावहारिक जान पड़ती है कि प्रत्येक नागरिक को कुछ न कुछ काम करना होगा। ऐसी योजना अनिवार्यत: इस विचार पर

आधारित है कि समाज में ऐसी सत्ता रहेगी जो आवश्यकता होने पर शक्ति-प्रयोग कर सके, और क्योंकि अराजकतावाद राज्यहीन समाज की कल्पना करता है, इसे काम (work) के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देने में कठिनाई होगी।

समष्टिवादी योजना के विरुद्ध वही आपत्तियां हैं जो कि बल-प्रयोग के किसी रूप के भी विरुद्ध उठाई जाती हैं। कहा जाता है कि बिना काम किये व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएं प्राप्त नहीं होंगी। परन्तु यह निर्णय कौन करेगा कि कौन सा और किस प्रकार का काम उपयुक्त समझा जायगा। क्या ऐसे चित्र चित्रित करना जिनकी किसी को आवश्यकता नहीं है, तथा शासन-विरोधी लेख लिखना भी उचित काम माना जायगा?

इन कठिनाइयों को हल करने का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि ऐसे प्रश्नों के निर्णय का भार किसी केन्द्रीय या स्थानीय प्रशासनिक निकाय को न देकर उत्पादकों की श्रेणियों को सौंप दिया जाय। श्रेणी-समाजवादी राज्य में प्रत्येक नागरिक चाहे उसका कोई भी व्यवसाय हो, ऐसी श्रेणियों में संगठित किया जायगा। व्यावसायिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का आग्रह है कि श्रम तथा वेतन के प्रश्न व्यावसायिक निकायों द्वारा तय किये जाने चाहिये। अब हम संक्षेप में इसी सिद्धान्त पर विचार करेंगे।

(२) **व्यावसायिक प्रजातन्त्र :** अभी तक जिन विभिन्न सिद्धान्तों पर हमने विचार किया है उन सब में विकेन्द्रण के महत्त्व पर बल दिया गया है। अन्य प्रश्नों पर शिल्पी-संघवादी, श्रेणी-समाजवादी तथा अराजकतावादियों के मध्य जो भी भेद हों, इस प्रश्न पर उनमें मतैक्य है। समाजवाद की पुरानी धारणा कि वर्त्तमान व्यक्तिगत व्यवस्थाओं के स्थान पर राज्य का असीमित नियन्त्रण स्थापित हो जायगा, अब सत्य नहीं है। समष्टिवादी भी अब सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापी राज्य का सिद्धान्त, जिसमें सारी सत्ता कुशल शासनाधिकारियों तथा निरीक्षकों के हाथ में हो, नहीं मानते हैं। यह सन्देहास्पद ही है कि उन्होंने कभी राज्य की इस असीम रूप की कल्पना की थी। श्रेणी-समाजवादी इसी

प्रश्न पर समष्टिवादियों से अलग हो गये थे, परन्तु अब यह सम्भावना की जा सकती है कि वे भी श्रेणी-समाजवादियों के शक्ति विकेन्द्रण के प्रस्ताव को तथा राष्ट्रीय और केन्द्रीय निकायों द्वारा होनेवाले नियन्त्रण के स्थान पर व्यावसायिक तथा स्थानीय नियन्त्रण व्यवस्था को, स्वीकार कर लेंगे।

प्रथम अध्याय में राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हमने संकेत किया था कि अब सामान्यतः केन्द्रीय अधिकारी-राज्य (bureaucratic) व्यवस्था के विपक्ष में ही भावना है। जैसा हम देख चुके हैं, मनुष्य अधुना अधिकाधिक संख्या में, विभिन्न उद्देश्यों के लिये निर्मित स्वैच्छिक संवासों के सदस्य हैं, जो अपने क्षेत्र-विस्तार में राष्ट्रीय सीमाओं से आबद्ध नहीं हैं। ये संवास राष्ट्र राज्यों के कर्त्तव्यों का उसी प्रकार अनुयोजन करते चले जा रहे हैं जिस प्रकार उन्होंने इसके नागरिकों के हितों को आत्मसात् कर लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोपॉतकिन ने इसी प्रकार के संवासों के विकास को ध्यान में रखते हुए कहा था कि समाज की अराजकतावादी धारणा वर्त्तमान समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों के विश्लेषण से ही उद्भूत हुई है। यह अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि इन संवासों का राजनीतिक सिद्धान्त के लिये क्या महत्त्व है, तथापि यह निर्विवाद है कि मानवीय सम्पर्क की स्वस्थता तथा जीवनीशक्ति और व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास करने के लिये अनुप्राणित करने की क्षमता, अतीत की भांति राज्य के हाथों में न रहकर, विभिन्न प्रकार के छोटे-छोटे निकायों के हाथों में चली गई है।

यूनानियों का यह कथन, जो उनके नगर राज्यों के विषय में सत्य था, कि केवल समाज में ही मनुष्य अपनी प्रतिभाओं को पूर्णतः विकसित कर सकता है, वर्त्तमान राज्यों पर लागू नहीं होता। परन्तु अब यह उन निकायों के सम्बन्ध में सत्य है जो सीमित हितों का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं।

समाजवादी राज्य के स्थान पर अधिकाधिक इस प्रकार के निकायों द्वारा ही समाज-सेवा का उत्साह उत्पन्न करने की आशा करते हैं जिस पर समाजवाद की व्यावहारिक प्रभावशीलता निर्भर करती है। समाजवादियों के दृष्टिकोण

में इस परिवर्त्तन का कारण राज्य के आकार में महान वृद्धि है, जिसके फल-स्वरूप राज्य अब अपने सदस्यों के संकल्प को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है। आजकल समाज में इतनी बड़ी शक्तियां सक्रिय हैं, शासन का ढांचा इतना विस्तृत तथा जटिल हो गया है, और घटनाओं को निश्चित करने वाले कारकों (factors) को सुलझाना इतना दुर्बोध तथा कठिन हो गया है, कि मनुष्यों के लिये उन्हें नियन्त्रित करना तो दूर, उन्हें समझना ही असम्भव हो गया है। समाज के इस जटिल सावयवी के सम्मुख व्यक्ति अपने को असहाय तथा नपुंसक अनुभव करता है। वह न तो काल्पनिक सामान्य संकल्प के एक तत्त्व-रूप में और न एक स्वतन्त्र संकल्प के रूप में ही घटना-क्रम को प्रभावित कर सकता है। जो कुछ घटनाएं घटित होती हैं, वे मानवीय संकल्पों तथा प्रयास का फल प्रतीत नहीं होतीं, अपितु अन्धकारमय एवं अनियन्त्रित शक्तियों के संघर्ष का परिणाम लगती हैं। इनकी उत्पत्ति के स्रोत खोज पाना कठिन है और इनके उद्देश्य, यदि हैं तो, रहस्यमय हैं। ऐसी परिस्थितियों में विचारशील व्यक्ति राजनीति के प्रति उदासीन हो जाते हैं, और यदि वे इस विषय में कभी सोचते भी हैं तो घटनाओं की व्याख्या उसी प्रकार करते हैं जैसा हम हार्डी के उपन्यासों में पाते हैं, अर्थात्, उनका यह विश्वास हो जाता है कि अन्धी और भावनाहीन नियति ही जिसे मानवीय हिताहित की कोई चिन्ता नहीं है, जो बिना द्वेष के मनुष्यों का विरोध करती है और अभिप्रायहीन उनकी सहायता भी कर देती है, घटनाचक्र की स्वामिनी है। इस प्रकार अचेतन राजनीतिक नियतिवाद (determinism) का सिद्धान्त प्रचलित हो गया है। मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि वे जिस संसार में रहते हैं उसे परिवर्त्तित करने में असमर्थ हैं, समाज में उनका कोई महत्त्व नहीं है, तथा उनके संकल्प तथा इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं है। समाजवादी प्रयोगों के प्रति अविश्वास का कारण मुख्यतः यही भावना है। यह अविश्वास भाग्यवादिताजनित है, जो समाज के गठन में किसी भी परिवर्त्तन को सन्देह की दृष्टि से देखता है और जिसका यह विश्वास है कि किसी प्रकार के परिवर्त्तन में भी असंदिग्धतः कुछ

भयों का सामना करना पड़ेगा, इसीलिये यही अच्छा है कि परिवर्त्तन न किये जायं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सामाजिक क्रिया में मनुष्य के विश्वास को पुनर्जागृत करना है तो राज्य के कई खण्ड कर, उसके कृत्यों को वितरित कर देना चाहिये। व्यक्ति के लिये यह सम्भव होना चाहिये कि वह ऐसे अनेक छोटे-छोटे निकायों का सदस्य हो सके, जिनके पास अधिशासी (executive) शक्तियां हों, जो उत्पादन तथा स्थानीय प्रशासन के लिये उत्तरदायी हों, जिनकी सदस्यता के नाते व्यक्ति एक बार पुनः यह अनुभव कर सके कि उसका राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्व है, उसके संकल्प का मूल्य है, तथा उसके कार्य यथार्थतः समाज के हित में किये जाते हैं। अराजकतावादी के इस कथन का कि समाज स्वैच्छिक निकायों का ऐसा श्रेणीबद्ध संगठन होना चाहिये, जो सरल से प्रारम्भ होकर जटिल की ओर बढ़े, यही अभिप्राय है।

एतदर्थ शासन यन्त्र का क्षेत्र घटाया जाना चाहिये, इसका समुचित प्रबन्ध तभी सम्भव है जब यह स्थानीय बनाया दिया जाय, जिससे मनुष्य अपने राजनीतिक प्रयासों का परिणाम सामने देखकर, यह अनुभव कर सकें कि जहां यथार्थतः स्वशासन होता है, वहां समाज उनके संकल्पों के अनुरूप काम करता है, क्योंकि वे ही समाज हैं। यह सम्भव है कि इस प्रकार से संगठित समाज कारखाने तथा कारखाना-समितियों को समाज-सेवा का स्रोत बना दे। ये स्रोत विशाल केन्द्रीय राज्य में शुष्क हो गये हैं। जहां तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि क्या इस प्रकार के समाज में वर्त्तमान राज्य से मिलती-जुलती कोई केन्द्रीय शक्ति होगी, तृतीय अध्याय में उल्लिखित कारणों से यह सम्भाव्य जान पड़ता है कि इस प्रकार के निकाय की आवश्यकता होगी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य-कलाप उन मनुष्यों को भी प्रभावित करते हैं जिनसे उनका कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है। इस प्रकार की गति-विधियों के विनियमन के लिये किसी केन्द्रीय निकाय की आवश्यकता प्रतीत होती है, और यही कारण है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवहार में अराजकतावादी समाज उस

सामंजस्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा जिसकी वह कल्पना करता है।

(३) **पद्धति का प्रश्न :** यह एक कठिन प्रश्न है और इसमें निहित सब बातों पर विस्तृत रूप से विचार करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। वर्त्तमान स्थिति से अधीर तथा सुधारों की मन्द गति से हताश होकर अनेक समाजवादियों में एक दु:शीलता जन्म ले लेती है और इस कारण वे यह सोचने लगते हैं कि उनके उद्देश्यों की प्राप्ति केवल वर्त्तमान समाज से पूर्णत: सम्बन्ध-विच्छेद करके ही हो सकती है। आधुनिक साम्यवादी, मार्क्स के इस विचार का अनुसरण करते हैं कि यह विच्छेद हिंसात्मक होगा और इसके कारण दीर्घकाल तक गृह-युद्ध चलेगा। शिल्पी-संघवादियों का सामान्य हड़ताल का सिद्धान्त भी इसी विचार पर आधारित है।

परन्तु यह सन्देहास्पद ही है कि क्रान्तिवादी समाजवादी पूँजीवाद के उन्मूलन के लिये जिन पद्धतियों का समर्थन करते हैं उनसे इच्छित फल की प्राप्ति होगी। यदि मार्क्स का ऐतिहासिक-नियतिवाद का सिद्धान्त सत्य है तो आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होते ही क्रान्ति अवश्य होगी। इसलिये यह प्रश्न ही निरर्थक है कि क्या साम्यवादियों का इस अवश्यम्भावी क्रान्ति के लिये प्रयत्न करना बुद्धिमत्तापूर्ण है ?

परन्तु इसके प्रतिकूल यदि क्रान्ति का प्रश्न दीर्घकाल में मानवीय संकल्पों तथा प्रयासों द्वारा निर्धारित होगा तो इस पर विचार करना उचित ही है कि हमें क्रान्ति की शरण लेनी चाहिये या नहीं।

क्रान्ति के विपक्ष में निम्नोक्त विचारों पर ध्यान देना चाहिये।

(अ) संघर्षकाल में समाज अस्तव्यस्त हो जाता है; इसके पश्चात् इसका क्या रूप होगा यह बतलाना असम्भव नहीं, तो कठिन, अवश्य है। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसका रूप क्रान्तिकारियों की कल्पना से पर्याप्त अंशों में भिन्न होगा। विशेषत: यह सम्भाव्य है कि क्रान्तिकारी वर्ग-युद्ध के फलस्वरूप कुछ ऐसे व्यक्ति सत्ता हस्तगत करलें जो कि क्रान्ति के प्रणेताओं से भिन्न प्रकार के हों। समाजवादियों का यह विचार भ्रामक है कि क्रान्ति के

पश्चात् राज्य के शासक आज के क्रान्तिकारियों के समान पूर्णत: निस्वार्थ होंगे। इसके विपरीत वे महत्त्वाकांक्षी, अधिशासी प्रकृति के, सत्ता तथा प्रसिद्धि के लिये उत्सुक, ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका मुख्य लक्ष्य अपने को सत्तारूढ़ बनाये रखना होगा। ऐसे व्यक्तियों के कारण, और राष्ट्रीय संघर्ष तथा संकट के समय सत्ता हस्तगत करने की उनकी प्रवृत्ति के कारण, यह असम्भव प्रतीत होता है कि वर्ग-युद्ध के फलस्वरूप एक ऐसे शासक विहीन समाज का जन्म होगा जिसमें व्यक्ति पहले समय पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा, अर्थात् अराजकतावादी समाज की स्थापना होगी। फलत:, इस भय के कारण बुद्धिमान व्यक्ति क्रान्ति की शरण नहीं लेंगे।

(ब) हिंसात्मक परिवर्त्तनों की हिंसात्मक प्रतिक्रिया होती है। रूस में, जहां क्रान्ति का संचालन आद्योपान्त मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार किया गया यद्यपि क्रान्तिकारी दल अभी भी सत्तारूढ़ है तथापि उसने अपने मौकिल सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया है। राज्य-पूंजीवाद, व्यक्तिगत भू-स्वामी व्यवस्था, मध्यवर्गीय साम्पत्तिक अधिकार तथा निजी व्यापार आज रूस की मुख्य विशेषताएं हैं।[1] इसलिये वहां समाज का इस समय मार्क्स की शिक्षाओंसे उतना ही सम्बन्ध है जितना कि क्रान्ति के पूर्व था। वर्त्तमान समय में वहां सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व नहीं है, और भविष्य में इसकी सम्भावना नहीं है कि राज्य का लोप होकर एक स्वतन्त्र समाज की स्थापना होगी।

ऐसी परिस्थितियों में यह प्रतीत होता है कि विकासशील समाजवादियों की क्रमिक सुधारों की नीति द्वारा, क्रान्ति की अपेक्षा, अधिक स्थायी प्रगति की प्राप्ति होगी यद्यपि, यह उतनी अधिक आश्चर्यजनक न हो।

(१) यह कथन अब सत्य नहीं है। अनुवादक

# सहायक ग्रन्थ सूची

इस पुस्तक में वर्णित सिद्धान्तों से सामान्य परिचय के लिए निम्नलिखित पुस्तकें उपयोगी सिद्ध होंगी :


1. Sir Ernest Barker : *Political Thought in England. 1848-1914* (Home University Library)
2. F. W. Coker : *Recent Political Thought*
3. H. W. Laidler : *Social-Economic Movements*
4. Oakshot : *Social and Political Doctrines of Contemporary Europe*
5. T. H. Green : *Lectures on the Principles of Political Obligation* (Longmans)
6. B. Bosanquet : *Philosophical Theory of the State* (Macmillan)
7. L. T. Hobhouse : *The Metaphysical Theory of the State* (Allen and Unwin)
8. J. S. Mill : *Utilitarianism : Liberty and Considerations on Representative Government* (Everyman's Library)
9. Graham Wallas : *Human Nature in Politics* (Constable)
10. Hilaire Belloc : *The Servile State* (T. N. Foulis)
11. Karl Marx and F. Engels : *Communist Manifesto*
12. Karl Marx : *Capital*
13. F. Engels : *Anti-Duhring*
14. *Fabin Essays in Socialism* (Fabian Society)
15. George Sorel : *Reflections upon Revolution*, English translation by T. E. Hulme (Allen and Unwin)
16. Carpenter : *Guild Socialism*
17. N. Lenin : *The State and the Proletarian Revolution*
18. P. Kropotkin : *Anarchism, Its Philosophy and Ideal*